।। श्री ।।

संस्कृत शोध संस्थान, ग्रन्थमाला ११

# वास्तु पीयूष

## भाग- १

डॉ. पारस राम शास्त्री
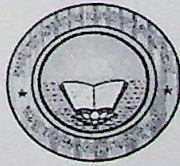
संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

**प्रकाशकः** संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

**मुद्रक** : शिवा प्रिंटर्स, पलोड़ा, जम्मू

**संस्करणः** प्रथम, विक्रम सम्वत् २०७०, सन् २०१३

**प्रतियाँ** : ५००

**ISBN : 978-81-928321-7-3**



**मूल्यः १५०-००**

## संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

**जम्मू-काश्मीर संस्कृत परिषद्, जम्मू**

द्वारा संचालित

**मुख्य कार्यालयः** ४२/ ११ बरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-१८११२३

सम्पर्क सूत्र : ०६४१६१४७०७३, ०६४६६५०३८७६

E-mail :- ssshodh@gmail.com, jksanskritparishad@gmail.com

# विषयानुक्रमणिका

## चतुर्थ अध्याय



## पंचम अध्याय

# सम्पादकीय

वास्तुशास्त्र का आधुनिक युग में विशेष बोलबाला दिखाई पड़ रहा है। वैदिक वाङ्मय, पुराणों एवं ज्योतिषशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में वास्तु पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इसी पद्धति से महाराजा भोज ने पुर, भवन और देवप्रासाद आदि विषयों से सम्बन्धित वास्तु शास्त्रीय सामग्री से युक्त समराङ्गण सूत्रधार नामक ग्रन्थ की रचना की। महाराज भोज ने इस के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है। अतः प्रथम अध्याय में अध्याय में लेखक के व्यक्ति और कृतित्व को उभारने का प्रयास किया गया है।

देवप्रासाद निर्माण के हेतु एवं प्रयोजन नामक द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत देवप्रासाद की व्युत्पत्ति, मन्दिर शब्द की व्युत्पत्ति, देवप्रासाद के मुख्य हेतु धार्मिक भावना, मूर्ति पूजा, पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धान्त, स्वर्ग प्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति, देवप्रासाद उत्पत्ति विषयक विभिन्न मत और धार्मिक चेतना एवं मोक्षाभिलाषा, पुण्य प्राप्ति, उपासना, फल प्राप्ति आदि प्रयोजन एवं देवप्रासाद के प्रकार- नगर जाति के अनुरूप देवप्रासाद के भेद, मेर्वादिषोडशप्रासाद, मेर्वादिविंशिका प्रासाद, प्रासाद स्तवन, विमानादिचतुष्षष्टिप्रासाद, श्रीकूटादिषट्त्रिंशत प्रासाद, मेर्वादिविंशिकानागरप्रासाद, द्राविड़ जाति के देवप्रासाद के भेद तथा कर्तृ कारक व्यवस्था को निरूपित किया गया है।

तृतीय अध्याय में देवप्रासाद निर्माण विधि एवं वास्तु परिचय में देवप्रासाद निर्माण हेतु भूमि चयन, भूमि शोधन, प्रयुक्त वास्तु विवेचन और उचित सामग्री सम्बन्धी विचारों को अङ्कित किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में देवप्रासाद के विभिन्न अंग शिलान्यास, भित्ति, द्वार, पीठ, जगती, मण्डप, गर्भगृह, छत्त और शिखर आदि का विवेचन किया गया है।

पंचम अध्याय में समराङ्गण सूत्रधार के आधार पर प्रतिमा निर्माण विधि के अन्तर्गत प्रतिमा का मान एवं द्रव्य, प्रतिमा निर्माण में अङ्ग तथा उपाङ्ग, प्रतिमा के गुण और दोष, प्रतिमा के देवादिरूप लक्षणों का वर्णन किया गया है। महाराज भोज ने अत्यन्त सरल प्रतिपादन शैली से देवप्रासाद विषय का अपने ग्रन्थ में विवेचन किया है जिससे इस ग्रन्थी की महिमा द्विगुणित होती है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों में विधान का वर्णन भी किया गया है। इस कृति के सम्पादन करते हुये यह प्रयतन्न किया कि इस कृति में वर्णित विधान से जिज्ञासु को पुरा ज्ञान प्राप्त हो सके। त्रूटी एवं किसी प्रकार की कमी की पूर्ति केलिए आपके सुझाव अपेक्षित हैं।

भवदीय

**डॉ. पारसराम शास्त्री**

।श्री।

# वास्तु पीयूष भाग 1

## प्रथम अध्याय

## भोज परिचय

**व्यक्तित्व** – महाराजा भोज अद्भुत व्यक्तित्व के राजर्षि थे। भारतीय इतिहास में ऐसे शासक बहुत कम हैं जिनसे भोज की तुलना की जा सके। राजर्षि 'प्रियदर्शि' अशोक महाप्रतापी महाराज विक्रमादित्य के बाद भारतीय जनसमाज में अतिप्रसिद्ध राजा भोज हुए हैं। महाराज विक्रमादित्य का यदि न्याय प्रसिद्ध है, तो महाराजा अशोक का धर्म प्रचार और महाराजा भोजदेव की साहित्यिक गरिमा। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में भोजदेव सांस्कृतिक विकास की पराकाष्ठ के प्रतीक हैं। उनके राज्यकाल में संस्कृत–साहित्य के चरमोत्कर्ष से इस तथ्य की पुष्टि होती है। भोज परमार वंश के थे। परमारों की उत्पत्ति अग्नि से हुई थी जो अर्बुदाचल पर्वत पर वसिष्ठ के अग्निकुण्ड में स्थापति थी। इस वंश के अग्नि से उद्भव का इतिहास भोज ने अपने "सरस्वती कण्ठाभरण" नामक अलङ्कारग्रन्थ में 'नायकगुण' के प्रसंग देते हुए कहा है कि "वसिष्ठ मुनि द्वारा सम्पन्न कराये गये सैकड़ों यज्ञों के अग्निकुण्ड से उत्पन्न, पुण्यों के उत्पत्ति स्थल, सात समुद्रों की मेखला वाली पृथ्वी के शासक परमार नाम के राजा हैं विश्वमित्र के जय अर्जित जिनकी दोनों भुजाओं के पौरुष को आज भी विचित्र हर्ष से गद्‌गद् वाणी वाले गुजरात के रहने वाले लोग ज़ोर–ज़ोर से मते हैं।[1]

इनके पिता का नाम सिन्धुल अथवा सिन्धुराज था और इनके पितामह का नाम 'सीयकदेव' तथा चाचा का नाम 'मुञ्ज' था। सीयकदेव के उत्तराधिकारी मुञ्ज ही थे। जिनके बाद सिन्धुराज राज्यासीन हुए और उनके बाद उनके पुत्र राजा भोज। भोज की माता का नाम सावित्री तथा पुत्र का नाम जयसिंह था। इनकी पत्नी का नाम लीलावती तथा पुत्री का नाम भानुमती था। इनके पितृव्य मुञ्ज की मृत्यु 114 से 117 ई. के मध्य हुई थी। तदनन्तर इनके पिता सिन्धुराज शासनासीन हुए और कुछ दिनों गद्दी पर रहे। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह नामक राजा का समय 1055–56 ई. है क्योंकि उनका शिलालेख मान्धाता नामक स्थान में उपर्युक्त ई. का प्राप्त होता है। राजा भोज की विद्वता एवं दानशीलता का इतिहास प्रसिद्ध है। इनका समय एकादश शतक का है। 'राजतङ्गिणी' में कहा गया है कि "कश्मीर के क्षितिराज एवं नगरी के मालवा नगरी के नरेश राजा भोज– ये दोनों विद्वान कवियों के बहुत बड़े बन्धु थे।"[2]

---

1. वासिष्ठैः सुकृतोद्भवोऽध्वरशतैरस्तयग्निकुण्डोद्भवः
   भूपालः परमार इत्यधिपतिः सप्ताब्धिकाञ्चेर्भुवः।
   अद्यापयद्भुतहर्षगद्‌गद्‌गिरो गायन्ति यस्योद्भटं
   विश्वामित्रजयोर्जितस्य भुजयोर्विस्फूजितं गुर्जराः।।

   सरस्वतीकण्ठभरण, पञ्चम परिच्छेद, श्लोक 417, पृष्ठ संख्या 560

2. स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतों।
   सूरी तस्मिनक्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ।। राजतरंगिणी, तरंग–7, श्लोक 249

राजा भोज का दूसरा नाम "त्रिभुवन नारायण" भी मिलता है। इसी नाम का एक ओर पर्याय त्रिलोक नारायण भी इन्हीं के लिए प्रयुक्त है। इन पर्यायवाचक संज्ञा शब्दों का प्रयोग छन्द की सङ्गति के लिए हुआ होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाम कवि कल्पित ही हैं, वास्तविक नहीं, क्योंकि यह नाम होने पर भोज के शिलालेखों अथवा ग्रन्थों में भी इसे उल्लिखित होना चाहिए, किन्तु भोज के किसी भी ग्रन्थ में भोज नाम के अतिरिक्त दूसरा नाम नहीं मिलता।

राजा भोज ने उज्ययिनी से हटाकर अपनी राजधनी 'धारा नगरी' को बनाया था। अतः इनको 'धारेश्वर' कहा जाता है, इस प्रकार 'मालव देश' के शासक होने से वह 'मालवाधिपति' आदि भी कहे जाते हैं। भोज मालवाधीश थे। उनके युद्ध पड़ोस के राजाओं से होते रहे। भोज का राज्य कैलास से लेकर मलयगिरि तक फैले होने का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है।

राजा भोज शैवमतानुयायी थे। उन्हें शिव भक्त भी कहा गया है। राजा भोज के अधिकांश ग्रन्थों का मङ्गलाचरण शिवपरक है। "सरस्वतीकण्ठभरण" अलंकार ग्रन्थ के आदि में यदि सरस्वती का स्मरण है तो अन्त में शिव का भी स्मरण किया गया है। सूक्ष्म आदि के भेद करने से ध्वनि, वर्ण, पद तथा वाक्य थे चार जिसके अधिष्ठान हैं उस 'वाणी देवी' की हम उपासना वन्दना करते हैं।[1] जब तक चन्द्रकला को धारण करने वाले भगवान् शिव के मस्तक पर गंगा रहे, जब तक कौस्तुभ मणि से सटी हुई भगवती लक्ष्मी विष्णु के वक्षःस्थल पर विद्यमान रहें तथा तब तक मनोभव कामदेव की तीनों लोकों को जीतने में सक्षम पुष्पमयी धनुष रहे।[2] भोज के बहुसंख्या ग्रन्थों में से कुछ ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें मङ्गलाचरण में शिव के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का वर्णन है। भोज शैवदर्शन के जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे वह "सिन्द्धात" शैवदर्शन के नाम से विख्यात है यह दर्शन द्वैतवादी है। इनके दीक्षागुरु का नाम उत्तुङ्गशिव था, जो प्राचीन लाट देश की कल्याणनगरी के निवासी थे।

महाराज भोज ने धरा में 'सरस्वतीकण्ठाभरण पाठशाला' का निर्माण कराया था, जहां उन्होंने सरस्वती की प्रतिमा स्थापित की थी। अपने देश के बाहर भी अनेक राज्यों में उन्होंने वापी तड़ाग आदि के साथ शिवमन्दिरों का निर्माण करवाया था। इसके अतिरिक्त केदार, रामेश्वर सोमनाथ, सुन्दरवन, कालानल (महाकाल) आदि स्थलों पर भी मन्दिर निर्माण करने का उल्लेख मिलता है।[3]

**कृतित्व** – राजा भोज ने चौंसठ ग्रन्थों का प्रणयन किया है और विविध विषयों पर समान अधिकार के साथ लेखनी चलाई है। धर्मशास्त्र, ज्योतिष, योगशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, व्याकरण, काव्यशास्त्र आदि विषयों पर इन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने "शृङ्गारमञ्जरी" नामक-कथा एवं "मन्दारमरन्दचम्पु"

---

1. ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।
   यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे।। सरस्वतीकण्ठभरण, प्रथम परिच्छेद, श्लोक-1
2. यावच्चित्तभुवस्त्रिलोकविजयप्रोढ धनुः कौसुमं।
   भूयात तावदियं कृतिः कृत्तधियां कर्णावतंसोत्पलम्।।
   सरस्वतीकण्ठभरण, पञ्चम परिच्छेद, श्लोक-528, पृ॰ 683
3. केदार-रामेश्वर-सोमनाथ-सुण्डीर-कालानल-रुद्रसत्कै।
   सुराश्रयेर्व्याप्य य चः समन्ताहार्थायसज्ञां जगती चकार।। एपीग्रैफिक इण्डिया, भाग-1, पृ॰ 236

नामक चम्पू काव्य का भी प्रणयन किया है। वास्तुशास्त्र पर इनका "समराङ्गणसूत्रधार" नामक अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है इसमें सात हज़ार श्लोक और 83 अध्याय हैं। भवन निर्माण, पुर निर्माण एवं देवप्रासाद निर्माण के विषय में विस्तार से बताया गया है। यह ग्रन्थ वास्तु के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालता है। इस ग्रन्थ में प्रतिमा निर्माण पर भी व्यापक विवेचन हुआ है।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' इनका व्याकरण सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो आठ प्रकाशों में विभक्त है। इन्होंने 'युक्तिप्रकाश' एवं 'तत्वप्रकाश' नामक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है और औषधियों के ऊपर चार हज़ार अट्ठारह श्लोकों में "राजमार्तण्ड" नामक ग्रन्थ लिखा है। 'योगसूत्र' पर राजमार्तंड नामक इनकी टीका भी प्राप्त होती है। 'काव्यशास्त्र' पर इन्होंने 'शृङ्गार प्रकाश' एवं 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक दो प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें तद्विषयक सभी विषयों का विस्तृत विवेचन हैं। भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' में छत्तीस अध्याय हैं और इसमें फुलस्केप आकार की पाण्डुलिपि के 1908 पृष्ठ हैं। यह ग्रन्थ समग्र संस्कृत साहित्य के महत्तम ग्रन्थों में एक है और अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में तो यह सबसे बड़ा ग्रन्थ है।[1]

इन्होंने अपने दोनों काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों में काव्य के स्वरूप, भेद, रस, अलंकार, नाटक, रीति, वृत्ति, साहित्य नायक-नायिका-भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और इनके सम्बन्ध में कईं नवीन तथ्य प्रस्तुत किये हैं। इनके अनुसार काव्य के तीन प्रकार हैं- वक्रोक्ति, रसोक्ति एवं स्वभाववोक्ति। इनमें रसोक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य विद्या है। इनहोंने रस का महत्त्व स्थापित करते हुए काव्य को रसवत् कहा है और शृङ्गारप्रकाश में रस की दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इन्होंने रस, अभिमान एवं शृङ्गार को पर्यायवाची शब्द मानकर रस को अहंकार से उत्पन्न माना है। शृङ्गार को मूल रस मानकर भोज ने अलंकार शास्त्र के इतिहास में नवीन व्यवस्था स्थापित की है। इन्होंने पूर्ववर्ती सभी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन कर समन्वयवादी परम्परा की स्थापना की है और इसी दृष्टि से इनका महत्त्व है।

'प्रबन्ध चिन्तामणी' के अनुसार 'सरस्वती कण्ठाभरण' के अतिरिक्त भोज ने एक सौ आठ ग्रन्थों का प्रणयन भी किया था।[2] 'श्रीनिवास अयङ्गर' महोदय ने 'भोजराज' नामक अङ्ग्ल ग्रन्थ में प्रबन्ध चिन्तामणि को ही आधार मानकर कहा है कि भोज राज ने एक सौ आठ मन्दिरों का निर्माण करवाया और उन्हीं पर आधारित एक सौ आठ ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से अट्ठाईस ग्रन्थों का अन्वेषण हो चुका है।[3]

'आफ्रेक्ट' महोदय ने अपने 'कैटेलाग्स कैटेलागोरम्' में भोज के नाम से भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रन्थों की सूची दी है।

1. **काव्यशास्त्र** – सरस्वतीकण्ठाभरण, शृङ्गारप्रकाश।
2. **व्याकरण** – सरस्वतीकण्ठाभरण, शब्दानुशासन, भर्तृहरिकारिका।
3. **चिकित्सा** – आयुर्वैदसर्वस्व, राजमृगाङ्क, विश्रान्तविद्याविनोद, शलिहोत्र, अश्वचिकित्सा।

---

1. सरस्वतीकण्ठभरण, राजा भोज, भूमिका में
2. सोऽभ्यस्तसमस्तशास्त्र ............ समस्तलक्षणलक्षितो ववृधे।
   प्रबन्धचिन्तामणि, पृ॰ 22
3. भोजराज, अयङ्गर, अध्याय-7, पृ॰ 99, ठीवरं पे संपक बवउचंतमक 104 चवमउे जव उंजबी पूजी जीभ ति जमउचसमेए ीम इनपसज व जीमेम 28 सवअम इममद कपेबवअमतमकण

4. **ज्योतिष** – आदित्यप्रतापसिद्धान्त, राजमार्तण्ड, राजमृगाङ्क, विद्वज्जनवल्लभ-प्रश्न ज्ञान।
5. **शैवदर्शन** – सिद्धान्तसंगह, तत्वप्रकाश, शिवतत्वरतनकलिका।
6. **वास्तुविद्या** – समराङ्गण सूत्रधार, युक्तिकल्पतरु।
7. **धर्मशास्त्र एवं नीति** – चाणक्यनीति, चारुचर्या, व्यवहारसमुच्चय विविधविद्याचतुरा, सिद्धान्तरसारपद्धति।
8. **अन्यदर्शन** – राजमार्तण्ड (योगसूत्रवृत्ति), राजमार्तण्ड (वेदान्त) द्रव्यानुयोगतर्कणा की टीका।
9. **काव्यादि**– चम्पूरामायण, नाममालिका (कोष) विद्या विनोद (काव्य) सुभाषित प्रबन्ध, कूर्मशतकम् अवनिशतकम् पारिजात मञ्जरी, शृङ्गारमञ्जरीकथा, कोदण्ड, अज्ञातनामप्राकृतकाव्य।

इन ग्रन्थों में चाणक्य नीति, चारुचर्या तथा राजमार्तण्ड (वेदान्त) संदिग्ध हैं, क्योंकि प्रथम चाणक्य की तथा दूसरी क्षेमेन्द्र की रचना होने का सन्देह है। राजमार्तण्ड नामतः उल्लिखित होने पर भी अनुपलब्ध है। 'शिवत्वरत्नकलिका' किसी कृष्णानन्द सरस्वती की रचना समझी जाती है। इस पर उनकी 'आमोदरञ्जन' नाम की सवोपज्ञ टीका भी है। 'सिद्धान्त संग्रह' पर सोमेश्वर की विवृति नाम की टीका है। यह सिद्धान्त शैवदर्शन का ग्रन्थ है। कूर्मशतक तथा अवनिशतकम् ये दोनों प्राकृत भाषा की भोज की रचनाएं हैं। 'चम्पूरामायण' या 'रामायणचम्पू' की रचना भोज ने किष्किन्धाकाण्ड तक ही की थी, शेष युद्ध काण्ड की पूर्ति लक्ष्मणसूरी ने की। अनुमत्राटक (महानाटक) का भी उद्धारक भोज को माना जाता है और रचयिता दामोदर मिश्र को।

इस तरह धाराद्यिपति महाराज भोज की अपूर्व उदारता, अद्‌भुत विद्वता और अलौकिक गुणग्राहकता प्रसिद्ध है वह स्वरूपचन्द्र सौम्यः शान्तस्वभाव, दृढ़प्रतिज्ञ और असीम साहसी थे। उन्होंने थोड़ी सी अवस्था में बहुत से उत्तम कार्य किये थे, इनके लिखे हुए ग्रन्थ महनीय हैं। राजा भोज द्वारा रचित ग्रन्थ "समराङ्गण सूत्रधार" की महानता ज्यों की त्यों बनी हुई है। धर्मशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्यशास्त्र, राजनीति, विभिन्न भाषाज्ञान, वास्तु एवं समर की विद्याओं को जानने तथा प्रवीणता प्राप्त करने के जितने अवसर राजा को मिलते थे, उतने किसी भी अन्य व्यक्ति को नहीं। भोज स्वयं कवि तथा कविहृदय, शूरवीर, धर्मात्मा एवं नीतिज्ञ थे, इसलिए उनके द्वारा इन विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का रचा जाना पुष्ट अधिक और शंका का विषय कम सिद्ध होता है।

**ग्रन्थ का परिचय –**

महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेवविरचित 'समराङ्गण सूत्रधार' वास्तुशास्त्र ग्रन्थ ग्यारहवीं शताब्दी की अधिकृत कृति है। इसमें वास्तु शास्त्रीय सभी विषयों का प्रतिपादन है जो बड़ा वैज्ञानिक भी है। समराङ्गण का साधारण अर्थ तो युद्ध क्षेत्र से है परन्तु यह वास्तुशास्त्र का ग्रन्थ है, ग्रन्थकार ने वास्तु का परम उपादेय मर्म इस शीर्षक में ही भर दिया है "समर" का अर्थ है आपस में जुड़े हुए अच्छे-अच्छे चक्र (जैसे एक पहिये से उसके अर जुड़े होते हैं।) "आङ्ग" का अर्थ है शालाएं अर्थात् गृह। अतः वह समराङ्गण है और उनका सूत्रधार "समराङ्गण सूत्रधार" हुआ। इस ग्रन्थ की सर्वप्रमुख विशेषता साधारण जनोचित-भवन विन्यास है। इसमें देवभवनों पर भी बड़ा प्रौढ़ प्रतिपादन हुआ है। राजा भोज ने वास्तुशास्त्र सम्बन्धी अपने इस ग्रन्थ में तीन प्रकार के भवनों जनभवन, राजभवन और देवभवन पर बड़ा व्यापक विवरण दिया है।

"समराङ्गण सूत्रधार" एक महनीय ग्रन्थ है। इसमें वास्तु सम्बन्धी सभी विषयों का साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है यथा- प्रथम अध्याय में वास्तु आधार महासभा (पृथिवी), वास्तु संरक्षक

(पृथु) और वास्तु-आचार्य (विश्वकर्मा) की सुन्दर अवतारणा की गई है। सुख, धन, ऋद्धि, सन्तान सभी नरों के प्रिय है इनकी सिद्धि के लिए शुभ उपादेयता अनिवार्य है। देश, पुर, निवास, सभा, वेश्म (भवन) तथा आसन आदि जो ऐसे उपादेय हैं वह सभी श्रेयस्कर माने गये हैं। दूसरे अध्याय में विश्वकर्मा और उसके पुत्रों का वार्तालाप और पुत्रों का विनियोग बताया है। प्रश्न नामक तीसरे अध्याय में जय, विजय, सिद्धार्थ, अपरार्जित विश्वकर्मा इन चारों मानस पुत्रों में जय अपने पिता से वास्तु की जिज्ञासा का शमन करने हेतु प्रश्न करता है कि पृथ्वी का आकार क्या है? आधार क्या है? प्रमाण क्या बताते हैं? इसका विस्तार कितना है? कितने देश, कितने प्रकार की भूमियां अलग-अलग निरुपित हुई है? और कहां पर जनपद सम्बन्धी सन्निवेश किया गया है?

"महदादिसर्ग" नामक चौथे अध्याय में सृष्टि वर्णन है। महाप्रभु ब्रह्मा ने जब प्रजा सृष्टि के प्रति अपना ध्यान दिया तो सर्वप्रथम 'महान' की सृष्टि हुई। महत् से तीन प्रकार के अहंकार की सृष्टि हुई जिसके सात्विक विकार से मन, राजस से इन्द्रियां और तामस से तन्मात्राएं उत्पन्न हुई। महाप्रभु ब्रह्मा ने जरायुज, अंडज, उद्भिज्ज, स्वदेज इन चार विभागों से चार प्रकार की सृष्टि हुई। पांचवां अध्याय भुवन कोश से सम्बद्ध है। इसमें सम्पूर्ण पृथ्वी के विष्कम्भ, परिधि तथा बाहुल्य का वर्णन है। भमि का विष्कम्भ (माप) दस करोड़ उन्नीस लाख बताया है। इसकी परिधि बत्तीस करोड़ आठ लाख अस्सी हज़ार मानी है। दो लाख बीस हज़ार योजन इसका बाहुल्य (क्षेत्रफल) माना गया है। 'सहदेवाधिकार' नामक छठे अध्यय में भवन जन्म कथा है तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित (आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक) मनुष्य अपने मैथुनादि की अभिगुप्ति छुपाने के लिए वृक्षावास से ऊब कर पत्थरों से वृक्षों को काट-काट कर झोंपड़ियां बनाने लगा। महलों का स्मरण करके एक, दो, तीन, चार, सात तथा दस शाला वाले तथा उसी प्रकार से घरों का निर्माण करने लगा। परकोटे तथा परिखाएं घास से ढककर घर बनाकर सुख से रहने लगा।

"वर्णाश्रम-प्रविभाग एवं वास्तु-विनियोग" नामक सातवें अध्याय में राजा के आविर्भाव का वृत्तान्त बताया गया है, साथ ही साथ आश्रम भेद यथा ब्रह्मचर्य, गर्हस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास- इन चारों आश्रमों का भेद एवं ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण्य भेद भी बताया गया है। 'भूमि परीक्षा' नामक आठवें अध्याय में भूमि परीक्षा के विषय में बताया गया है कि किस तरह की भूमि भवन बनाने के लिए प्रशस्त है और कौन सी अप्रशस्त है। जांगल, अनूप तथा साधारण देशों से युक्त लक्षणों से भूमि सोलह प्रकार की होती है। नौवां अध्याय "हस्त लक्षण" (मान योजना) के विषय में है। हस्त (गज) सम्पूर्ण वास्तु कृत्यों तथा वास्तु कर्मों का आधार माना गया है। मान, उन्मान एवं विभागादि के निर्णय का यही एकमात्र आधार माना है। पुर निवेश नामक दसवें अध्याय में पुरों का विवरण दिया गया है कि पुर तीन प्रकार के होते हैं ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ। इन तीनों प्रकार के पुरों के साथ प्राकार, परिखा, अटारी, द्वार, गली के साथ-साथ उनके प्रमाण का वर्णन पुर निवेश में किया गया है।

"वास्तु-त्रय-विभाग" नामक ग्यारहवें अध्याय में क्षेत्र के चौकोर बनाने तथा उसका विभाग करके किस दिशा में कौन सा देवता स्थापित हो उसका वर्णन किया गया है। बारहवां अध्याय "नाड़यादि-शिरादि-विकल्प" है। वास्तु पुरुष एक ही है, उसे नाना प्रकार से प्रिकल्पित किया गया है। वास्तु पुरुष के शरीर की कल्पना करके पहले मुख, फिर शिर, फिर कान, आंख, तालु, ओष्ठ, दांत, छाती, कण्ठ, स्तन आदि बताया गया है तथा इस प्रकार की आकृति वाला वास्तु पुरुष बनाना चाहिये।

तेरहवां अध्याय "मर्म वेद्य" से सम्बद्ध है। दीपाल से विस्तृत मध्य के द्वारा अथवा लकड़ी के मध्य लकड़ी द्वारा जो मर्म जिस धर में पीड़ित होता है, उसका फल इस अध्याय में बताया गया है।

चौदहवॉं अध्याय "पुरुषांग-देवता-निघट्वादि निर्णय" में पृथक्-पृथक् देवताओं का वर्णन है। इसमें वास्तु-पुरुष के अङ्गों का तथा वास्तु पद के देवताओं के नाम-भेद का भी वर्णन हुआ है। पन्द्रहवां अध्याय 'राज निवेश' है राज निवेश एक नगर निवेश के समान था, जिसमें राजोचित, नाना हर्म्यों, भवनों, सोधों के साथ पांच, छह, सात कक्षाएँ, मण्डप, क्रीड़ास्थान, पड़ाव, दूतावास, अन्य राजाओं के उपयुक्त स्थानों के साथ-साथ बाज़ार, सड़कें और चित्र शालाएं आदि भी निवेश्य होती थीं। सौलहवें अध्याय में घर बनाने के लिए यथाविधि, पूर्व से उत्तर से द्रव अर्थात् भवन निर्माण में आवश्यक दारु (लकड़ी) लाना चाहिये। वृक्षों का रंग, तेल, वल्कल आदि को अच्छी तरह से परीक्षण कर फिर उसकी अवस्था मालूम करनी चाहिये और बाल वाले तथा वृद्ध वृक्षों को छोड़ देना चाहिए। इसमें दारू के विषय में बताया गया है।

सतारहवां अध्याय "इन्द्रध्वज निरूपण" से सम्बद्ध है। ब्रह्मा ने इन्द्रध्वज के तीन रूप दिये हैं- एक सहस्रधार, दूसरा रिपुकूलान्तक तथा तीसरा दिव्यमय विजय की इच्छा रखने वाले इन्द्र ने चित्त से उस यन्त्रस्थित ध्वज का सृजन किया। अट्ठारहवां अध्याय "नगरादि संज्ञा" से सम्बद्ध हैं। जिस नगर में राजा रहता है उसको राजधानी कहते हैं और अन्य शाखा नगर कहे गये हैं। उन्नीसवां अध्याय "चतुःशाला विधान" से सम्बद्ध है। ब्राह्मणों के घरों की लम्बाई-चौड़ाई से देश अंश अधिक होने चाहिये। क्षत्रियों, वेश्यों तथा शूद्रों के घर आठ, छः और चार अंश अधिक होने चाहिये। बीसवां अध्याय "उच्च और नीच" गृह फल के विषय में है इसमें बताया गया है कि जहां पर पश्चिम से नीची भूमि होती है और आगे स्थूल होती है वह भूमि सब वर्णों के लिए अच्छी होती है। जहां अग्र भाग से नीचा, पृष्ठ भाग से ऊँचा घर होता है वह स्वामी को शीघ्र ही विराग और व्यसन उत्पन्न करने वाला होता है। इक्कीसवां अध्याय "त्रिशाला-भवन" के विषय में है इसके वहतर भेद हैं और भेद हैं और भवन की संज्ञाएं और उनके अलग-अलग सम्पूर्ण लक्षण बताये गये हैं।

बाईसवां अध्याय "द्विशाल भवन" के विषय में है। द्विशाला भवनों वाले घरों की बावन संख्या है। उसमें शुभ और अशुभ भी है। "एकशाला भवन" का वर्णन तेईसवें अध्याय में हुआ है अलिन्द, षडदारू, अपवरक, आवरणा आदि भेद से एक शाला वाले भवन कहे गये हैं। चौबीसवां अध्याय "द्वार पीठ भित्ति मान" से सम्बद्ध है इसमें घरों के दरवाज़ों की ऊँचाई, दीवालों का विस्तार तथा गृहकर्म में लकड़ी का प्रयोग जो एकशाला भवन के विधान है उनका वर्णन इस अध्याय में हुआ है। पच्चीसवां अध्याय गृह-संख्या के विषय का है। एकशाला, द्विशाला, त्रिशाला तथा चतुःशाला इन चारों के परस्पर संयोग से दशशाला भवनों का वर्णन इस अध्याय में हुआ है। छब्बीसवां अध्याय "आयादि निर्णय" में शुभाशुभ मास तिथियां जैसे द्वितीय पञ्चमी, सप्तमी, नवमी, एकादशी त्रयोदशी ये शुभ तिथियां भवनारम्भ के लिए बताई गई है।

सत्ताईसवां अध्याय 'सभाष्टका' से सम्बद्ध है इसमें आठ प्रकार की सभा का वर्णन है। अट्ठाईसवां अध्याय "गृह-द्रव्य-प्रमाण" के विषय में है। इसमें जो उपादेय और परिताज्य गृहद्रव्य है उनके प्रमाण कहे गये। है। उन्नतीसवां अध्याय "शयनासन" सम्बद्ध है। इसमे बताया गया है कि शय्या के निर्माण के लिए जो लकड़ी हो उसमें छिद्र नहीं होना चाहिये। निष्कुट, कोल-हक,

क्रीड़–नयन वत्सनाभक, कालक एवं वधक, यह छः प्रकार के छिद्र हैं। तीसवां अध्याय 'राजगृह' के विषय में है। इक्कतीसवां अध्याय "यन्त्र" अध्याय है यन्त्र की शक्ति के स्वभाव पर, यन्त्र के बीजों पर, यन्त्रकर्म, यन्त्र गुण, यन्त्र–भेद तथा प्राचीन यन्त्र कौशल का निरूपण इस अध्याय में हुआ है। "गजशाला" नामक बत्तीसवें अध्याय में हाथियों के रहने के स्थान से सम्बद्ध है — गजशाला छः प्रकार की होती है यथा :– 1. सुभद्रा, 2. नन्दिनी, 3. सुभीगदा, 4. भद्रिका, 5. वर्षणी तथा 6. प्रमारिका।

तैंतीसवां अध्याय "अश्वशाला के विषय में है। "अप्रोज्य–प्रयोज्य" नामक चौंतीसवें अध्याय में राजाओं के, सेनापतियों के तथा वार्णियों के घरों, वास्तु कक्षाओं में, सभाओं में और देव मन्दिरों में शय्यागृह, आसन, यान, वर्तन, अलंकार आदि के लिए जो वस्तुएं अप्रयोज्य (अशुभ है भवन भूषा के लिए) तथा प्रयोज्य है उनका वर्णन इस अध्याय में हुआ है। पैंतीसवां अध्याय "शिलान्यास विधि" से सम्बद्ध है। जो शिलाएं शुभ तथा कर्म हितकारक मानी गई हैं वह हैं — कुम्भ, अंकुश, ध्वज, छत्र, मत्स्य, चामर, दूर्वा, नागफल, पुष्प, कूर्म आदि। छत्तीसवां अध्याय "बलिदान–विधि" अर्थात् पूजा की विधि से सम्बन्धित है। इस पूजन विधि के द्वारा ही समुचित अर्चित होने पर महेश्वर शिव के सहित सभी देवता तुष्ट होते हैं।

सैंतीसवां अध्याय "कीलक सूत्रपात" से सम्बन्ध रखता है। गृहनिर्माण के अवसर पर सूत्रपात–विधि में जिन कीलकों अर्थात् खूंटियों में जिन लकड़ियों की योजना की गई है उनका कल्याण और कीर्ति तथा हित सम्पादन का वर्णन इस अध्याय में हुआ है। अड़तीसवां अध्याय 'वास्तु–संस्थान–मातृकाध्याय' के विषय में है इसमें सभी कर्मा उपजीवियों के निवास के लिए निमित क्षेत्रों का वर्णन हुआ है। चौकोर तथा सम में राजा अपना निवास स्थान बनाने, शय्याकार में पुरोहित, दीर्घ में राजकुमार और वृत्तायकार में सेनापति निवास करें। उन्तालीसवां अध्याय "द्वार–गुण दोष" से सम्बन्धित हैं इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के घरों तथा उनके लिए उपयोगी भूमि का वर्णन हुआ है वहाँ कहा गया है कि ब्राह्मण मुख्य पद–वास्तु में निवास करें, क्षत्रिय द्वि वास्तु में वास करें, वितथ में वैश्य और सुग्रीव में शूद्र निवास करें।

चालीसवां अध्याय "पीठमान" से सम्बद्ध है। उत्तम, मध्यम और कनीयस तीन प्रकार की पीठ होती है। इकतालीसवां अध्याय "चयविधि" से सम्बद्ध है। चय अर्थात् चुनाई के गुणों और दोषों का वर्णन हुआ है। सुविभक्त, बराबर, सुन्दर और चौकोर चुनाई शुभ कही गई है। बयालीसवां अध्याय "गृहशन्तिकर्मविधि" से सम्बन्धित है। इसमें गृह के लिए शन्तिकर्म का विधान कहा गया है "द्वार भङ्गफल" नामक तैंतालीसवें अध्याय में नवकर्म का प्रतिपादन किया गया है। नवीन कर्म में जो वस्तु स्निग्ध, सुगन्धित तथा प्रतिपादन किया गया है। चौबालीसवां अध्याय "स्थपति लक्षण" अध्याय है स्थापत्य चार प्रकार का होता है शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा तथा क्रियान्वितशील अर्थात् आचारण इस लक्ष्य तथा लक्षण अर्थात् शास्त्र में निष्ठा रखने वाला नर ही स्थपति होता है। पैंतालीसवां अध्याय "अष्टाङ्ग–लक्षण के विषय में है। चार प्रकार के स्थापत्य के बाद उसी के आठ अङ्गों से युक्त अष्टाङ्ग स्थापत्य के वर्णन से युक्त है– 1. वास्तु पुरुष, 2. पुर विनिवेश, 3. द्वार कर्म, 4. रथ्या–विभाग, 5. प्राकार–निवेश, 6. अट्‌लक–निवेश, 7. प्रतोली–विनिवेश, 8. नगर विभाग। "तोरण–भङ्गादि–शन्तिक" नामक छयालीसवें अध्याय में पुराना अथवा नया बनाया गया अथवा अर्ध निर्मित देवताओं या राजाओं का तोरण यदि गिर

जाये, टूट जाये, जल जाये अथवा बिजली और जल आदि से नष्ट हो जाये इन दोषों का वर्णन है।

सैंतालीसवां अध्याय "वेदी लक्षण" से सम्बन्धित है। अड़तालीसवां अध्याय "गृहदोष निरूपण" के विषय में है। तृषा (भूसी) हड्डी, केश, कीड़ों की खाल, शंख, भस्म आदि से युक्त भूमि को त्याग देना चाहिय। जिन दो शालाओं का पश्चिम की ओर मुख होता है उसे विकोकिल भवन कहते हैं वहाँ पर रहने वालों की आयु, पशु तथा धान्य का नाश हो जाता है राजा भोज न समराङ्गण सूत्रधार के उन्चासवें अध्याय से लेकर तिरासीवें अध्याय तक देवप्रासाद निर्माण का वर्णन किया गया है "रूचकादिप्रासाद लक्षणं में प्रासादोत्पत्ति का वर्णन करते हुए ब्रह्मा ने पांच व्योमानीय विमानों की परम्परा में शिला, पकी हुई ईंट आदि सामग्री से विनिर्मित पांच प्रमुख वैराजादि प्रासादों का निर्माण किया, उनमें वैराज, चौकोर, कैलास-वर्तुल पुष्पक-चतुरस्रायताकार, मणिक, वृत्तायत, त्रिविष्टम-अष्टास्र ऐसा आकार विनियोग बताया गया है। "प्रासाद शुभाशुभलक्षणं" नामक पचासवें अध्याय में देवप्रासाद के शुभ तथा अशुभ लक्षणों का वर्णन है। इक्यावनवें अध्याय में अथातन के विषय में है।

बावनवां अध्याय देवप्रासाद जातियों से सम्बद्ध है। तरेपनवां अध्याय "जघन्यावास्तु द्वार" एवं चौवनवां अध्याय देवप्रासाद के द्वार के विषय में है। पचपनवें अध्याय में मेर्व नामक प्रासाद के ज्येष्ठ मध्य तथा कनिष्ठ नामक सोलह देवप्रासादों का वर्णन है। छप्पनवां अध्याय "रूचकादिचतुष्षष्टिप्रासाद" से सम्बद्ध है। सतावनवां अध्याय 'मेर्वादिविंशिका" से सम्बद्ध है इसमें मेरू आदि बीस देवप्रासादों का वर्णन हुआ है।

"प्रासादस्तवन" नामक अठावनवें अध्याय में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश चण्डिका एवं सूर्य इन प्रधान आर्यदेवों के प्रिय प्रासादस्तवन का वर्णन हुआ है। हर एक देवता के आठ-आठ प्रिय प्रासादस्तवन हे जिनका आपस में (8 ष 8 = 64) चौंसठ प्रासादों का वर्णन है, जैसे महेश के आठ प्रिय देवप्रासाद हैं। यथा :- 1. विमान, 2. सर्वतोभद्र, 3. गजपृष्ठ, 4. पद्मक, 5. वृषभ, 6. मुक्तकोण, 7. नलिन, 8. द्राविड़। इसी तरह सभी देवों के आठ-आठ प्रिय देवप्रासाद है।

उनसाठवां अध्याय "विमानादिचतुष्षष्टिप्रासादलक्षणं" के विषय में है। "श्रीकुटादिषटत्रिंशत्प्रासादलक्षणं" नामक साठवें अध्याय में छत्तीस प्रकार के देवप्रासादों का वर्णन है। इकासठवां अध्याय "पीठपञ्लक्षणं" से सम्बद्ध है। इसमें पांच प्रकार की पीठों (बेसमेंट) का वर्णन है। "द्राविड़ लक्षणं" नामक बयासठवें अध्याय में बारह प्रकार के द्राविड़ प्रासादों का वर्णन है। तिरेसठवां अध्याय "मेर्वादिविंशिकानागरप्रासाद" से सम्बद्ध है इसमें विशुद्ध नागर शैली के बीस देवप्रासादों का वर्णन है। यथा :- 1. मेरू, 1. मन्दर, 3. कैलाश, 4. कुम्भ, 5. मृगराज, 6. गज, 7. विमानच्छन्द, 8. चतुरस्र, 9. अष्टास्र, 10. षोडशास्र, 11. सिंह, 12. नन्दन, 13 नन्दिवर्धन, 14. हंस, 15. वृष, 16. गरुड़, 17. पद्मक, 18. समुद्रक, 19. सर्वतोभद्र और 20. वर्तुल।

चौसठवां अध्याय "दिग्भद्रादिप्रासादलक्षणं" के विषय में है। "भूमिज-प्रासाद लक्षणं" नामक पैंसठवें अध्याय में भूमिज शैली के तीन प्रकार के प्रासाद वर्ग का वर्णन है, जिनमें निशाद आदि चार चौकोर मलयाचल, माल्यावान्, नवमाली और निषद्य है। कुसुद और वृक्षाजाति प्रासाद तथा स्वास्तिक आदि पांच अष्टशाला देवप्रासादों का वर्णन है। "मण्डपलक्षणं" नामक छयासठवें अध्याय में आठ प्रकार के मण्डपों का वर्णन है यथा- 1. भद्र, 2. नन्दन, 3. महेन्द्र, 4. वर्धमान, 5. स्वस्तिक, 6. सर्वभद्रक, 7. महापद्म और 8. गृहराज। सत्तासठवां अध्याय "सप्तविंशतिमण्डपलक्षणं" से सम्बन्धित

है इसमें सत्ताइस प्रकार के मण्डपों का वर्णन हुआ है। मण्डपों का निर्माण भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए किया जाता है- अर्थात् यज्ञार्थ, यतियों, के आश्रमार्य देवता के पाकशाला के लिए, यात्रियों के विश्राम एवं राजाओं के विहार के लिए मण्डपों का निर्माण हुआ। अट्ठासठवां अध्याय जगत्यङ्ग समुद्रायाधिकारों से सम्बद्ध है। "जगती लक्षणं" नामक उनहत्तरवें अध्याय में देवप्रासाद के अनुरूप पांच प्रकार की जगती होती है। चतुरस्र (चौरस), आयल (लम्बा चौरस), अष्टास्र (आठकोनी), वृत्त (गोल) और वृत्तायत (लम्बा गोल) जिसका एक सिरा गोल और दूसरा आयत होता है, इसे ही बेसर कहते हैं। सत्तहरवां अध्याय "लिङ्गपीठ प्रतिमालक्षणं" के विषय में है। इकहत्तरवां अध्याय चित्रोद्दशो से सम्बन्धित है, बहत्तरवां अध्याय "भूमिबन्धों" के विषय में है। तिहतरवां अध्याय लेप्यकर्मादिकं के विषय में है इसमें कहा गया है कि प्रतिमा अर्थात् मूर्ति बनाने के लिए वृक्ष के मूल भाग की, नदी के किनारे की गुणों से युक्त मिट्टी इस्तेमाल करनी चाहिए। चौहतरवां अध्याय "अथाण्डक प्रमाण" के विषय में है। "मनोत्पतिर्नाम" नामक पचहत्तरवें अध्याय में मूर्ति अर्थात् प्रतिमा के मान के विषय में वर्णन उपलब्ध होता है। परमाणुओं से रज निर्मित होता है रज से रोम, रोमों से लिक्षा, लिक्षाओं से युका, युकाओं से यव और यवों से अंगुल मान निर्मित होता है। "प्रतिमा लक्षणं" नामक छिहत्तरवें अध्याय में सम्पूर्ण देवों की प्रतिमाओं के विस्तार तथा प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है। शिल्पियों को सावधानी से यथोचित द्रव्य संयोग से प्रतिमा का निर्माण करना चाहिये। सत्तहत्तरवां अध्याय देवादि-रूप-प्रहरण संयोग लक्षण और अस्त्र-शस्त्र का वर्णन और उसी प्रकार से दैत्यों के, यक्षों के गन्धवों, नागों और राक्षसों के तथा बिधाधरों और पिशाचों का वर्णन किया गया है।

'दोषगुण निरूपणं' नामक अठहतरवें अध्याय में प्रतिमा के दोषों तथा गुणों का वर्णन हुआ है अलिष्ट, सन्धि, विभ्रान्ता, वक्रा अवन्ता, अस्थिता, उन्नता, काकजंघा, प्रतयंग-हीना विकटा, मध्या बाली प्रतिमा दोषों से युक्त होती है। यह पुरुष के कल्याण के लिए कभी नहीं बनवानी चाहिएं। सुविभक्ता यथाप्रतिपादित, उन्नता, प्रसन्न-वदना आदि गुणों से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिये। उन्नासीवां अध्याय "ऋत्वाजगतादिस्थान" लक्षण से सम्बद्ध है। इसमें ऋजवागत, अर्धऋज्वागत तथा शरीर मुद्रा ऋज्वागत है। साचीकृत, अध्यर्धाक्ष एवं पार्श्वगत नामक स्थानों का वर्णन किया गया है उनके चार परावृत बीस अन्तर भी बताये गये हैं।

"वैष्णवादि स्थानलक्षणं" नामक अस्सीवें अध्याय में वैष्णव प्रभृति स्थानों का वर्णन किया गया है तथा गमनादि तीन गतियाँ भी बताई गई हैं और इसके ज्ञान से ही स्थपति शिल्पी को ही श्रेष्ठ गिना जाता है। इक्यासीवां अध्याय "पञ्चपुरुषस्त्रीलक्षणं" के विषय में है। इसमें हंस-प्रभृति पांच पुरुषों और दण्डिनी-प्रभृति पांचों स्त्रियों के देह-बन्धाधिक का वर्णन हंस रूचक भद्र और मालव्य ये पांच पुरुष बताये गये हैं। बयासीवां अध्याय "रसदृष्टिलक्षणं" से सम्बन्धित है। इसमें ग्याहरा रसों तथा अट्ठारहवा रसदृष्टियों का वर्णन किया गया है "पताकादिचतुष्षष्टिहस्तलक्षणं" नामक तिरासीवें अध्याय में चौंसइ प्रकार के हस्तों के योगायोग विभाग के लक्षण का वर्णन हुआ है- 1. पताक, 2. त्रिपताक, 3. कत्ररीमुख, 4. अर्धचन्द्र, 5. अराल, 6. शुकतुण्ड, 7. मुष्टि, 8. शिखर, 9. कपित्थ, 10. टकामुख, 11. सूचीमुख, 12. पद्मकोण, 13. सर्पशिरा आदि।

इस प्रकार राजा भोज विरचित 'समराङ्गण सूत्रधार' नामक अद्वितीय के प्रत्येक पक्ष पर व्यापक प्रकाश डालता है।

## द्वितीय अध्याय

# देवप्रासाद निर्माण

**व्युत्पत्ति :** 'प्रासाद' या 'विमान' देवगृह ही नहीं पूजा गृह भी है। इस देश में उन उपासना-गृह या स्थलों को जिनको हम मन्दिर या प्रासाद या विमान के नाम से पुकारते हैं। देवप्रासाद शब्द की व्युत्पत्ति "वाचस्पत्यम बृहत् संस्कृताभिधानम" इस प्रकार दी गई है- "प्रसीदत्यस्मिन प्र+सद्+आधारे धञ दीर्घः।" अमरकोष ने इसे 'देवगृह' का पर्याय माना है।[1] अमरकोष में देवप्रासाद की व्युत्पत्ति इस प्रकार से है- "देवानां भूभुजा च गृहमा (प्रसीदति मनोऽत्र) "हलश्च" सूत्र से "धञ" प्रत्यय और उपसर्ग दीर्घ आड़वा करने से व्युत्पन्न माना गया है।[2] वामन शिवराम आप्टे के हिन्दी कोष में देवप्रासाद इकट्ठा नहीं मिलता, परन्तु अलग-अलग मिलने पर देव शब्द "दिव" धातु में 'अच्' प्रत्यय करने से एवं प्रासाद शब्द (प्रसीदन्ति अस्मिन) 'प्रसद' धातु के साथ 'धञ' प्रत्यय और उपसर्ग दीर्घ आड़वा करने से व्युत्पन्न माना गया है।

परन्तु डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने अपनी पुस्तक "शास्त्र और कला" में देवप्रासाद की परिभाषा इस प्रकार दी है- "सदनं सादं" अर्थात् इष्टिकाओं अथवा शिलाओं का सादन, वैदिक चित्ति का प्रारम्भ करती है "प्रकर्षेण सादनं व यस्मिन सः प्रासादः" प्रकर्ष का अर्थ जहाँ पर मन्त्रादि नाना उपचार परस्पर अभिवेक आदि एवं परीक्षादि मन्त्रपूर्त इष्टिकाओं एवं शिलाओं के निवेश है। वैदिक योग का श्रीगणेश सर्वप्रथम चित्ति से प्रारम्भ होता है। चित्ति से ही चैत्य बना जो नरावास नहीं थे। यहीआगे चलकर ब्राह्मणों के लिए मन्दिर बने।

देवप्रासाद को ही वर्तमान समय में "मन्दिर" नाम से कहा जाता है। अधिकांशतः 'मन्दिर' शब्द की व्युत्पत्ति 'मन्द' धातु में 'किरच' प्रत्यय लगाकर की गई है, जिसका अर्थ गृह, आवास, वास, नगर, शिविर, देवालय आदि है।[3] संस्कृत साहित्य में मन्दिर शब्द प्राचीन नहीं है। वैदिक तथा उपनिषद् साहित्य में मन्दिर के लिये देवालय, देवकुल तथा देवायतन शब्दों का प्रयोग हुआ है। गुप्तकाल में इसके लिए प्रासाद और दक्षिण भारत में विमान, हर्म्य तथा कहीं-कहीं प्रासाद शब्दों का प्रयोग किया गया है।

मन्दिर शब्द की परिभाषा अधिकतर "ऐसा भवन, जहाँ पूजा कार्य सम्पन्न किए जाते हैं", के रूप में की गई है। देवप्रासाद अथवा मन्दिर देवता का शरीर और उसमें मन रूपी अमृत देवता एकांकी चिंतन और मनन के लिए विद्यमान होता है। गर्भगृह में विद्यमान श्रीवत्स वह तो इस अमृत देवता का प्रतीक मात्र है। मन्दिर का वही स्वरूप है जो मानव देह का है। जिस चबूतरे पर मन्दिर का निर्माण होता है वह पाद, ऊपरी भाग पैर तथा जंघा भीतरी भाग कटि छत के ऊपरी छत और स्कन्ध तथा शीर्ष भाग शिखर माना जाता है।[4] वर्तमान समय में देवप्रासाद को मन्दिर सम्बोधन से सम्बोधित किया जाता है तथा पाश्चात्य जगत् में मन्दिर के लिए 'टेम्पल' शब्द प्रयुक्त होता है। इसकी उत्पत्ति लेटिन शब्द 'टेम्पल' शब्द से मानी गई है। जिसका अर्थ है आयताकार देवालय।[5]

1. वाचस्पत्यम् बृहत् संस्कृताभिधानम्, श्रीतारानाथ-तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य, भाग 6, पृ॰ 530
2. अमरकोष, अमर सिंह, द्वितीय काण्ड, पुरवर्ग, श्लोक-9
3. संस्कृत हिन्दी कोष, वामन शिवराम आप्टे, 1996
4. डुग्गर के मन्दिर, लेखक शिव निर्मोही भूमिका से
5. डुग्गर के मन्दिर, लेखक शिव निर्मोही, भूमिका से

**निर्माण हेतु** – भारतवर्ष की सहस्त्रों वर्ष की संस्कृति में धर्म प्रमुख स्थान रखता है। धार्मिक विचार मानव जीवन के कर्मों का संचालन करते हैं तथा मनुष्य का जीवन दर्शन उसी पर आधारित है। संस्कृत वाङ्मय में देवप्रासाद निर्माण के हेतुओं के विषय में विस्तृत विवरण उपलब्ध होते हैं आपस्तम्भ सूत्र के अनुसार– "मनुष्यों के ऐश्वर्य के लिए, नगर के भूषण रूप के लिए, मनुष्यों को अनेक प्रकार की सामग्री की ओर मुक्ति पद देने वाला होने से, सब प्रकार की सत्यता की पूर्णता के लिए मनुष्यों के धर्म का कारणभूत होने से देवों की क्रीड़ा करने की भूमि होने से कीर्ति, आयुष और यश की वृद्धि के लिए और राजाओं के कल्याण के लिए देवप्रासाद का निर्माण हुआ।[1]

**1. धार्मिक आस्था** – देवप्रासाद निर्माण के प्रमुख हेतु के विषय में बताते हुए कहा गया है कि "देवप्रासाद के प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गों में देव और देवियों के विन्यास करके देवप्रतिष्ठा के समय उसका अभिषेक किया जाता है। इसलिए देवप्रासाद सर्वदेवमय बन जाता है। देवप्रासाद के निर्माण का एक हेतु यह भी था कि समाज में कर्मकाण्ड की गहरी धार्मिक भावना थी, वह देवपूजा या अर्चना के रूप में ढल गई– प्रत्येक देवप्रासाद उस क्षेत्र के लिए धर्म का मूर्त रूप समझा गया। भगवान् विष्णु अथवा अन्य देव का जो विशिष्ट सौन्दर्य या वह सुन्दर मूर्ति और देवप्रासाद के रूप में ऐसा प्रतिभासित होता था कि मानो स्वर्ग के सौन्दर्य को पृथिवी के मानव साक्षात् देख रहे हों जो जन समुदाय की सम्मिलित भक्ति और राजशक्ति का सदुपयोग अनेक देवप्रासादों के निर्माण में किया गया।

**2. मूर्ति पूजा** – देवप्रासाद निर्माण का एक अन्य हेतु देवप्रतिमा भी है। मूर्ति पूजा की भावना से ही देवप्रासाद का विकास अथवा निर्माण हुआ। मानव ने अपनी धार्मिक आस्थाओं की अभिव्यक्ति करने के लिए जिन प्रतीकों का निर्माण किया उनसे मूर्ति पूजा का आरम्भ हुआ। ईश्वर के विविध रूपों की कल्पना की गई। देवी देवताओं के मूर्त रूपों की पूजा हेतु स्थापना के लिए जो सुन्दर भवन निर्मित हुए वही भवन देवप्रासाद कहलाये। मूर्ति पूजा के लिए देवयातनों अर्थात् देवप्रासाद का निर्माण होता है। देवप्रासाद एवं प्रतिमा का वही सम्बन्ध है जो शरीर और प्राण का है। बिना प्रतिमा के देवप्रासाद निष्प्राण है।[2]

**3. जन्मचक एवं कर्म सिद्धान्त** :– देवप्रासाद निर्माण का मुख्य हेतु जन्मचक अर्थात् पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धान्त है, क्योंकि संसार में सर्वत्र सुख–दुःख, हानि–लाभ, जीवन महत्त्व, दारिद्रता–सम्पन्नता आदि स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। प्राचीन समय से ही मनुष्यों में यह धारणा रही कि देवप्रासाद निर्माण कराने से उनका पुनर्जन्म अच्छा होगा। भारतीय संस्कृति में देवप्रासाद का अत्यधिक आदर किया जाता है, इतना ही नहीं पूजनीय भी माना जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि देवप्रासाद को शिवलिंग का स्वरूप माना जाता है। जैसे शिवलिंग की पीठिका है वैसे देवप्रासाद की भी जगतीरूप पीठिका है। देवप्रासाद का जो चोरस भाग है, वह ब्रह्म भाग है उसके ऊपर का जो अष्टास्त्र भाग है, वह विष्णु भाग है और उसके ऊपर का जो गोल भाग है, वह साक्षात् शिवलिंग स्वरूप है।

**4. कामना सिद्धि** – वैदिक काल में "स्वर्गकार्यो यजेत" की इष्टापूर्त परम्परा स्थिर हुई, उसी प्रकार पौराणिक परम्परा में मन्दिर अथवा देवप्रासाद निर्माण–कार्य स्वर्गदायक तथा मुक्तिदायक ही नहीं

---

1. सुरालयो विभुत्यर्थ भूषणार्थ पूरस्य तु। नराणं भूक्तिमुक्त्यर्थ सत्यार्थ चैव सर्वदा।।
लोकानां धर्महेतुश्च क्रीड़ाहेतुश्च स्वर्भुवाम।। कीर्तिरायुर्थशोऽर्थ च राज्ञा कल्याणाकारक।।
आपस्तम्भसूत्र, 224–225.

2. प्रतिमा निर्माण, लेखक–डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, अध्याय – उत्तर पीठिका–1, पृ॰ 174

भुक्तिदायक भी माना गया है। मन्दिर का निर्माता यजमान के नाम से प्रतिष्ठित हुआ। मन्दिर निर्माण की प्रथम वास्तु होम्य थी, वह एक प्रकार का यज्ञ ही था। अतः देवप्रासाद कर्त्ता यजमान स्वर्ग का अधिकारी होता था तथा वहाँ उसका निवास नित्य माना जाता था। मन्दिर अथवा देवप्रासाद एक प्रकार का देवकार्य है जिससे स्वर्ग अवश्य मिलता है। भारतीयों में यही आस्था इस देश में न केवल बड़े-बड़े महादेवप्रासादों के निर्माण एवं प्रतिष्ठा में सहायक हुई वरन् प्रायः प्रत्येक व्यक्ति, जिसके पास थोड़ी भी सम्पत्ति है वह भी बड़े मठ न सही छोटी मठिया ही सही बनवाने का प्रयत्न करता आया है।[1]

**5. मोक्ष प्राप्ति** – देवप्रासाद निराकार ब्रह्म की साकार प्रतिकृति के रूप में उद्भावित है जिस प्रकार जलावतार (जल को जीवन भी कहा गया है) मनुष्य की निजी आत्मा है। उसको पहचान कर परमात्मा में लीन होने के तत्व अन्तर्हित हैं। तीर्थ यात्रा भी एक साधन है और साध्य मोक्ष्य है। मोक्ष, ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों के साथ-साथ तीर्थ यात्रा भी एक परम साधन है। ज्ञानियों एवं वैरागियों आदि के लिए आत्मा ही परम तीर्थ है। मोक्ष अभिलाषा के लिए भी देवप्रासाद का निर्माण हुआ।[2]

देवप्रासाद निर्माण परम्परा में दो धाराएं प्रमुख हैं- सार्वजनिक देवस्थान जिनकी संज्ञा तीर्थ है तथा नागरिक-देवालय, ग्रामीण-देवालय अथवा वैयक्तिक देवालय। देवता तो वहीं रमते हैं जहाँ मानव का भी मन रमता है। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य वन का एकान्त स्थान, सरिता का सुरम्य एवं पावन तट, पर्वत के उत्तुंग शिखर तथा उसकी उपान्त भूमियाँ, कलकलरव करने वाले निर्झरों का विमुग्धकारी वातावरण, विविध प्रकार के पुष्पों एवं फलों से लदे सुरम्य पादपों एवं लताओं के आकार उद्यान और क्षेत्र ही देवस्थान अथवा देवप्रासाद निर्माण के लिए उपयुक्त होते हैं।[3] प्राचीन समय में राजा अपने यश, विस्तार एवं स्वर्ग प्राप्ति के लिए भी देवप्रासाद का निर्माण कराते थे। देवप्रासाद के निर्माण का पुण्य यज्ञों तथा अन्य धार्मिक कृत्यों से अधिक माना जाता था।

"वासुदेव उपाध्याय" का मत है कि हिन्दू धर्म में देवप्रासाद का निर्माण पारलौकिक कार्य को ध्यान में रखकर किया जाता है। किन्तु जहाँ तक देवप्रासाद की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, कुछ विद्वानों का मत है कि देवप्रासाद तभी सामने आये जब मूर्ति पूजा आरम्भ हुई। किन्तु "स्टेला कामरिश" का अभिमत है कि देवप्रासाद का निर्माण तीर्थों से आरम्भ हुआ। भारतीय विद्वानों का एक दल ऋग्वेद कालीन यज्ञ-युप से मन्दिरों के निर्माण के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है तो दूसरे दल का अभिमत है कि हिन्दू मन्दिरों का उद्भव बौद्ध स्तूपों और चैत्यों से हुआ है। किन्तु अधिकांश विद्वान रथ से मन्दिर निर्माण के सिद्धान्त को मानते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार रथों की अनुकृति पर मन्दिरों का निर्माण हुआ। कई विद्वान मानते हैं कि आदिवासी डोलमेवो से मन्दिरों का निर्माण आरम्भ हुआ।

मन्दिर निर्माण के उपरोक्त सिद्धान्त चाहे कुछ भी हों, किन्तु सर्वमान्य है कि धार्मिक भवनों को जब ईश्वर का रूप माना जाने लगा तो वास्तुकारों ने अपनी विशिष्ट शैली से उसे "देवप्रासाद" का रूप दिया।

**देवप्रासाद निर्माण प्रयोजन** – भारतीय जीवन सदैव ही अध्यात्म से अनुप्राणित रहा है। जीवन की सफलता में लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा परलौकिक निःश्रेयस ही सर्वप्रधान लक्ष्य रहा है। परलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति में नाना मार्गों का निर्देश है, प्रार्थना, यज्ञ, मन्त्रोच्चारण, चिन्तन, योग,

---

1. भारतीय स्थापत्य, डॉ॰ द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, अध्याय — प्रासाद निवेश, पृ॰-304
2. प्रतिमा विज्ञान, डॉ॰ द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, पूर्व भाग-10, पृ॰-155
3. वनोपान्त नदी शैल निर्झरो पान्तभूमिषु। रमन्ते देवता नित्यं पुरेषुद्यानवत्सु।। बृहत्संहिता, अध्याय-55, श्लोक-8

वैराग्य, जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ यात्रा तथा देवदर्शन के लिए देवप्रासाद का निर्माण हुआ। बिना प्रयोजन के साधारण बुद्धि वाले मानव भी साधारण कार्य नहीं करते तो मन्दिर निर्माण, देव-प्रतिष्ठा आदि कार्य का कोई ना कोई प्रयोजन होता है :- प्रस्तुत हैं देवप्रासाद निर्माण के विभिन्न प्रयोजनः-

**आस्तिक भावना**- देवप्रासाद निर्माण का मुख्य प्रयोजन धार्मिक चेतना तथा मोक्षाभिलाषा था। जिस भूमि पर प्रभृत जलराशि के साधन सम्पन्न हैं और जहाँ पर पुष्पवृक्षों एवं फलवृक्षों के सुन्दर-सुन्दर उद्यान भी सुलभ्य हैं तथा सुनिविष्ट हैं वहां पर यश और धर्म की वृद्धि करने वाले यजमान को देवतायतन अर्थात् देवप्रासाद का निर्माण करना चाहिए। देवालय निर्माण कराने की इच्छा रखने वाले भक्त के सहस्र जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं मन में देवगृह-निर्माण का विचार करने वाले के सौ जन्म के पाप क्षीण हो जाते हैं।[1] धर्मशील मनुष्य को यश व धर्म के उत्थान हेतु देवप्रासाद बनवाते समय जलाशय, बावड़ी, कूप, वाटिका आदि का भी निर्माण कराना चाहिए, क्योंकि यज्ञादि करने और जनोपयोगी निर्माण से मृत्यु उपरान्त जिस लोक और फल की प्राप्ति होती है, वही फल देवगृह निर्माण कराने पर मिलता है।[2]

प्रतिमाओं की पूजा, उनके राजतत्व, अधिराज्यतत्व एवं राजोचित विशाल भवनों के समान ऊँची शिखरवालियों से विभूषित, नाना अलंकृतियाँ एवं निकेतनों से उल्लसित देवप्रासाद की आवश्यकता अनुभव होने लगी। जिस प्रकार चर्तुवर्ग-व्यवस्था तथा चतुराश्रभ्य व्यवस्था प्रकल्पित हुई। चर्तुवर्ग से तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सोपान के लिए जनता की तृष्ण उसकी धार्मिक चेतना एवं मोक्षाभिलाषा के लिए प्रतिमा पूजा, देवप्रतिष्ठा के अतिरिक्त और कौन सा उपाय इस देश में सोचा जा सकता था। जन्मान्तरवाद के विश्वासी भारतीय सनातन इसी उधेड़-बुन में रहे हैं कि मरने के बाद कौन सा साथी उसके साथ जायेगा। सभी सुख चाहते हैं, सभी उन्नति और तरक्की भी चाहते हैं। गरीब अमीर होना चाहता है, मूर्ख विद्वान, कुरूप सुन्दर। यदि इस जन्म में सुख की प्राप्ति नहीं हुई, सन्तोष नहीं प्राप्त हुआ तो दूसरे जन्म में ही सही। इस देश के मानव के मस्तिष्क की यही उद्विग्नता हिन्दू शास्त्रों में इष्टा-पूर्त के सिद्धान्त की निर्मायिका हुई।[3]

इष्टा का तात्पर्य है यज्ञ तथा पूर्त का तात्पर्य है मन्दिर निर्माण, कूप निर्माण, वापी, तड़ाग आदि का निर्माण जिससे स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति के सोपान सिद्ध होते हैं। स्वर्गादि के अभिलाषी यजमान देवप्रासाद का निर्माण कराते हैं, क्योंकि देवप्रासाद निर्माण में इष्ट (यज्ञादिजन्य-स्वर्ग-प्राप्ति) एवं पूर्त (धर्मार्थ-साधन दोनों ही एकत्र प्राप्त हैं) इष्ट एवं पूर्त दोनों ही शिष्टासम्पत धर्म हैं। पूर्त से वापी कूप, तड़ाग, देवतायतन आदि की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है एवं इष्ट से यज्ञकर्म। इनमें इष्टधर्म एकमात्र भोगार्थ साधन है परन्तु पूर्त भक्ति एवं मुक्ति दोनों का ही साधन हैं। अतः इसी महाभावना से पूर्त धर्म के परिपाक में देवप्रासाद निर्माण एक वृहद् निवेश है।[4]

**पुण्य प्राप्ति** - देवप्रासाद निर्माण का एक प्रयोजन पुण्य अर्जित करना भी है। संसार में मनुष्य जन्म का उद्देश्य अपने सत्कर्मों के माध्यम से स्वयं एवं परिवार का कल्याण और अभ्युन्नति तो है

1. चिकीर्षोर्दैवधामादि सहस्रजनिपापनुत।। मनसा सद्यकर्तृणां शतजन्माधनाशनम्। अग्निपुराण, अ०-38, श्लोक-1
2. कृत्वा प्रभुतं सलिलमारामान्विनिवेश्य च। देवातयतनं कुर्याद्यशोधर्मभिवृद्धये।। बृहत्संहिता, अध्याय 55, श्लोक-1
3. भारतीय स्थापत्य, अध्याय-प्रासाद निवेश, डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, पृष्ठ-303/304
4. इष्टापूर्तो स्मृतौ धर्मो श्रुतौ तौ शिष्टासंमतौ। प्रतिष्ठाप्य तयोः पूतमिष्टं यज्ञादिलक्षणमृ।।
   मुक्ति-भुक्तिप्रदं पूर्तमिष्टं भोगार्थसाधनम्। —कालिका पुराण

किन्तु इसके साथ पारलौकिक दृष्टि से भी देवप्रासाद आदि का निर्माण कार्य कराकर लोग पुण्य अर्जित करते हैं, जिससे वंश का विस्तार और कीर्ति होती है। मनुष्य देह, अखिल ब्रह्माण्ड और देवप्रासाद इन तीनों का स्वरूप सर्वथा एक-दूसरे के साथ संतुलित एवं प्रतीकात्मक है, जो पिण्ड है वही ब्रह्माण्ड में है और इन दोनों में उसी का मूर्त रूप देवप्रासाद हैं। इसी सिद्धान्त पर भारतीय देवप्रासाद की ध्रुव कल्पना हुई है।[1]

**उपासना** – देवप्रासाद निर्माण का एक प्रयोजन उपासना भी था। हिन्दू ऋषियों एवं महर्षियों ने प्रकृति रूप निराकार ईश्वर की उपासना के लिए विकृति रूप देवतायतनों एवं देवप्रतिमाओं की परम्परा का प्रचार किया। उपासना के लिए एक ऐसा भवन हो, जहाँ पर मनुष्य बैठकर अपने अराध्य देव की पूजा करे। हिन्दू धर्म में त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। अपने-अपने अराध्य देव की मूर्ति प्रतिष्ठित करने के लिए जिस प्रासाद की आवश्यकता पड़ी, वही प्रासाद देवप्रासाद कहलाये। देवमन्दिर बनवाने वाला अपनी इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार करके अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति करता है।

**फल प्राप्ति** – देवप्रासाद निर्माण का एक प्रयोजन फल भी है जो फल यज्ञों के द्वारा नहीं प्राप्त होते हैं वह फल देवालय अर्थात् देवप्रासाद के निर्माण से अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। मन्दिर का निर्माण कराने से सब तीर्थों के स्नान का फल प्राप्त होता है। देवता, ब्राह्मण आदि के लिये रणभूमि में मारे जाने वाले धर्मात्मा शूरवीरों को जिस फल की प्राप्ति होती है, वही फल देवप्रासाद के निर्माण से भी मिलता है। कोई कंजूसी के कारण धूल मिट्टी से ही देवप्रासाद बनवा दे, वह भी स्वर्ग लोक प्राप्त करता है। एक मन्दिर बनवाने से स्वर्ग मिलता है, तीन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और पाँच से शिव लोक की तथा आठ मन्दिर बनवाने से निर्माता साक्षात् हरिरूप हो जाता है। सोलह देवप्रासादों के निर्माण से कर्ता भुक्ति और मुक्ति दोनों का अधिकार प्राप्त कर लेता है।[2]

छोटा, बड़ा और श्रेष्ठ देवप्रासाद बनवाने से स्वर्ग, विष्णुलोक और मोक्ष की प्राप्ति होती है। धनी व्यक्ति श्रेष्ठ देवमन्दिर बनवाकर जो फल प्राप्त करता है वही फल निर्धन व्यक्ति छोटा-सा देवप्रासाद बनवाकर पा जाता है जो व्यक्ति स्वयं अपने श्रम से उपार्जित धन से थोड़े से अंश से भी हरि-मन्दिर का निर्माण करता है, वह अत्यधिक पुण्य और अनेक शुभ वरों को प्राप्त करता है। एक लाख, हज़ार, सौ या पचास रुपये की लागत से भी जो भगवान् का मन्दिर बनवाता है वह गरुड़ध्वज के लोक में स्थान पाता है। जो लोग बचपन में खेलते समय धूलि से भगवान् विष्णु का देवप्रासाद बनाते हैं वे भी उसके धाम को प्राप्त होते हैं। तीर्थ में, पुण्य-स्थान पर, सिद्ध क्षेत्र में या मुनि-आरम्भ में विष्णु देवप्रासाद बनवाने से पूर्वोक्त फल से तिगुना फल मिलता है।[3]

जो दीवारों पर बन्धूक पुष्प का चित्र बनाकर चूने से मन्दिर को पुतवाता है, वे अन्त में भगवान् के धाम में पहुँच जाता है। गिरे हुए या गिरते हुए या आधा गिरे हुए देवप्रासाद का जीर्णोद्वार कराने वाला

---

1. भारतीय वास्तुज्ञान, पं॰ जगदीश प्रसाद शर्मा, पृ॰-91
2. फलयत्राप्यते यज्ञैर्धाम् कृत्वा तदाप्यते। देवागारे कृते सर्वतीर्थस्नानफलं लभेत।।
एकायतनकृत्स्वर्गी त्र्यगारी ब्रह्मलोकभाक्। पञ्चागारी शम्भु-लोकमष्टागाराद्धरौ स्थितिः।।
षोडशालयकारी तु भुक्ति मुक्तिमवाप्नुमात्। कनिष्ठं मध्यमं श्रेष्ठं कारयित्वा हरेर्गृहम्।। अग्निपुराण, अध्याय 38, श्लोक 6/8/9.
3. श्रेष्ठमायतनं विष्णोः कृत्वा यदधनवाल्लभेत्। कनिष्ठेनैव तत्पुण्यं प्राप्नोत्यधनवान्नर।।
लक्षेणाथ सहस्रेण शतेनार्धेन वा हरेः। कारयन्भवनं याति यत्रास्ते गरुड़ध्वजः।।
तीर्थ चायतने पुण्ये सिद्धश्रेत्रे तथाश्रमे। कर्तुरायतनं विष्णोर्थथोक्तात्त्रिगुणं फलम्।।
अग्निपुराण, अध्याय-38, श्लोक-10/12 एवं 14.

व्यक्ति दुगुणा फल प्राप्त करता है। जो गिरे हुए विष्णु मन्दिर का उद्धार करता है या गिरते हुए मन्दिर की रक्षा करता है वह मनुष्य विष्णु का रूप है। जो कृष्ण-देवप्रासाद के निर्माण का समर्थन करते हैं वे भी अपने पापों से मुक्त होकर अच्युत-लोक को प्राप्त करते हैं। विष्णु मन्दिर का निर्माण करा देने से मनुष्य अपने दस हज़ार अतीत और भविष्य की पीढ़ियों को विष्णु-लोक पहुँचा देता है और उसके पितर विष्णु-लोक में सम्मानपूर्वक निवास करते हैं। कृष्ण मन्दिर के निर्माण कर्ता सम्पूर्ण नरकीय दुःखों से विमुक्त हो जाते हैं और उनके ब्रह्म-हत्या आदि पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं।[1]

जब तक उस विष्णु मन्दिर की ईंट रहती है तब तक वह व्यक्ति परिवार सहित विष्णुलोक में सम्मानपूर्वक निवास करता है। वही व्यक्ति पुण्यशाली और इहलोक तथा परलोक में पूज्य होता है, जो कृष्ण वासुदेव का मन्दिर बनवाता है। वही व्यक्ति सुकृती है, उसी ने अपने कुल का पालन किया है और वही यशस्वी है जिसने विष्णु रुद्र, सूर्य या देवी का देवप्रासाद बनवा दिया। जिस मूर्ख ने बड़े कष्ट से धन जोड़ा और उसकी रक्षा करता रहा परन्तु उस धन से कृष्ण का देवप्रासाद नहीं बनवाया, जिसके धन का उपयोग देव, पितर और ब्राह्मणों में नहीं किया और न तो जिसका धन भाई बन्धुओं के उपयोग में आया उसका धनोपार्जन व्यर्थ है जिस प्रकार मनुष्य की मृत्यु निश्चित है, उसी प्रकार धन का नाश भी, तो वह व्यक्ति मूर्ख है जो धन और जीवन के मोह से बंधा रहता है।[2]

जिसके धन का उपयोग न तो दान में हुआ, न वह प्राणी के स्वयं उपयोग में आया और न उसका व्यय कीर्ति-कर्म कार्य में हुआ, उस धन का स्वामित्व प्राप्त करने का क्या लाभ? इसलिए अपने पौरुष या भाग्यवश धन प्राप्त हो जाये तो शुद्ध ब्राह्मणों को यथाविधि दान कर देना चाहिये और उस धन से कीर्तन कराना चाहिये। मन्दिर निर्माण दान और कीर्तन से श्रेष्ठ है। अतः बुद्धिमान मनुष्य को विष्णु का मन्दिर अर्थात् देवप्रासाद का निर्माण कराना चाहिये। उस सर्वव्यापक देवाधिदेव महात्मा विष्णु के मन्दिर का निर्माण करके मनुष्य पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है। विष्णु के मन्दिर का निर्माण कराने से जितना पुण्य मिलता है, उतना ही शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, चण्डी, लक्ष्मी आदि देवों के मन्दिर निर्माण से भी प्राप्त होता है।[2] जो मिट्‌टी, लकड़ी या पत्थर से विष्णु का मन्दिर बनवाता है, वे सब पापों से मुक्त हो जाता है। प्रतिदिन यज्ञ करने वाले को जो महाफल मिलता है वह फल विष्णु का मन्दिर बनवाने वाले को प्राप्त होता है। भगवद्धाम का निर्माण कराकर मनुष्य अपने कुल की सौ, पीछे की ओर सौ आगे की पीढ़ियों को अच्युत-लोक में पहुँचा देता है।[3]

इसलिए जो व्यक्ति मन्दिर बनवाता है वह अपने कुल को अक्षय लोकों में पहुँचा देता है और

---

1. पतितस्य तु यः कर्ता पतितस्य च रक्षिता। विष्णोरायतनस्येह स नरो विष्णुरूपयाक्।।
   मनसा सद्यकर्तृणां शतजन्माधनाशनम्। येऽनुमोदन्ति कृष्णस्य क्रियमाणं नरा गृहम्।।
   विष्णुलोक नयत्याशु कारयित्वा हरेर्गृहम्। वसन्ति पितरो दृष्टा विष्णुलोक हनलङ्कृताः।।
   विमुक्ता नारकैर्दुखैः कर्तृ कृष्णस्य मन्दिरम्। ब्रह्महत्यादिपापौधधातकं देवलालयम्।। अग्निपुराण, अध्याय-38, श्लोक-27 एवं 2/4,6.
2. जातः स एव सुकृति कुलं तेनैव पालितम्। विष्णुरुद्रार्कदेव्यादेर्गृहकर्ता स कीर्तिभाक्।।
   नोपभाग्यं धनं यस्य पितृविप्रदिवोकसाम्। नोपभोगाय बन्धुनां वयर्थस्तस्य धनागमः।।
   यथा ध्रवो नृणां मृत्युर्वित्तणाशस्तया ध्रुवः। मूढस्तत्रानुबन्धाति जीवितेऽथ चले धने।। अग्निपुराण, अध्याय 38, श्लोक-20-23
3. नापि कीर्त्यै न धर्मार्थ तस्य स्वाम्येऽथ को गुणः। तस्माद्वितं समासाद्य दैवाद्वा पौरुषादथ।।
   दानेभ्यश्चाधिकं यस्मात्कीर्तनेभ्यो वरं यतः। अतश्च कारयेद्वीमान् विष्णवादेर्मन्दिरादिकम्।।
   आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्व विष्णोः समुद्भवम्। तस्य देवाधिदेवस्य स्वर्गस्य महात्मनः।।
   निवेश्य भवनं विष्णोनं भूयो भुवि जायते। यथा विष्णोधमिकृतौ फलं तद्वद् दिवौकसाम्।।
   अग्निपुराण, अध्याय-38, श्लोक-25, 26 एवं 29, 30

स्वयं भी अक्षय लोकों को प्राप्त करता है, जितने वर्षों तक मन्दिर की ईंटें रहती है, उतने हज़ार वर्षों तक मन्दिर का निर्माता स्वर्ग में विराजमान रहता है।[1]

**प्रकार** – राजा भोज ने चार सौ प्रकार देवप्रासादों का वर्णन किया है। देवप्रासादों का इतना व्यापक एवं विस्तृत वर्णन किसी भी ग्रन्थ में नहीं हुआ है। ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम आठ देवप्रासाद जातियों का वर्णन किया है— नागर, द्राविड़, वाराट, भूमिज, ललित, सान्धार, विमान, निर्गूढ़ तथा भिक्षक। इन देवप्रासाद जातियों के अन्तर्गत ही देवप्रासाद के भेदों अथवा प्रकारों का वर्णन भी हुआ है। नागर देवप्रासाद चतुरस्र (चौकोर) आकार के होते हैं।[2]

**नागर जाति के अनुसार भेद** – आलोच्य ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में नागर जाति के देवप्रासाद के भेदों का वर्णन इस प्रकार किया गया है यथा — 55वाँ अध्याय में "मेर्वादिषोडशप्रासाद" 57वाँ अध्याय में मेर्वादिविंशिकाप्रासाद, 58वाँ अध्याय में "देवस्तवनपुरस्सर" प्रासाद, 59वाँ अध्याय में "विमानादि चतुष्षष्टिप्रासाद" 60वाँ अध्याय "श्रीकूटादिषट्त्रिंशतप्रासाद" तथा 63वाँ अध्याय "मेर्वादिविंशिकानागरप्रासाद" आदि।

**मेर्वादिषोडशप्रासाद** – आलोच्य ग्रन्थ के छः अध्यायों के अन्तर्गत वर्णित सर्वप्रथम मेर्वादिषोडप्रासादों हैं :— मेरू, कैलाश, सर्वतोभद्र, विमानच्छद, नन्दन, हरप्रिय, स्वस्तिक, मृक्तकोण, श्रीवत्स, हंस, रुचको, वर्धमान, गरुड़, गज, मृगराज तथा पद्मक।[3]

**मेर्वादिविंशिकाप्रासाद** – आलोच्य ग्रन्थ में 'मेर्वादिविंशिकाप्रासाद' नामक इस अध्याय में बीस के स्थान पर 60 प्रकार के देवप्रासादों का वर्णन हुआ है। यथा— श्रीधरो, हेमकूट, सुभद्रो, रिपुकेसरी, पुष्पक, विजयभद्र, सुरसुन्दर, नन्धार्वत, पूर्ण, सिद्धार्थ, शङ्खवर्धन, त्रैलोक्यभूषण, पद्माख्य, पक्षबाहु, विशाल, कमलोद्भव, हंसध्वज, लक्ष्मीघर, महावज्र, रतिदेह, सिद्धिकाम, पञ्चचामर, नन्दिघोष, मानकीर्ण, शुभलक्षण, सुप्रभ, हर्षण, दुर्धर, दुर्जय, त्रिकूट, नवशेखर, पुण्डरीक, सुनाभा, महेन्द्र, बराट, सुमुखप्रासाद, नन्द, महाघोष, बृद्धिराम, वसुन्धरा[4], मुद्गप्रासाद, मेरू, मन्दर, कैलास, त्रिविष्टप, पृथिवीजय, क्षितिभूषण, सर्वतोभद्र, विमानम्, नन्दन, स्वस्तिर्कम्, मृक्तकोण, श्रीवत्स, हंस, रूचक, वधमान, गरुड़, गज, सिंह, पद्म। इस ग्रन्थ में जहाँ मेरु को प्रासादराज माना गया है। वही यह भी कहा गया है कि मेरु ही

---

1. यस्तु देवालयं विष्णोर्दारुशैलमयं तथा। कारयेन्मृन्मयं वाऽपि सर्वपापैः प्रमुच्यते।।
   कुलानां शतमागमि समतीतं तथा शतम्। कारयन् भगवद्धाम नयत्यच्युतलोकताम्।।
   अग्निपुराण, अध्याय-38, श्लोक-45 एवं 49
2. सप्तलोकमयो विष्णुस्तस्य यः कुरुते गृहम्। तारयत्यक्षयांल्लोकानक्ष्य्यान प्रतिपद्यते।।
   इष्टाकाचयविन्यासो यावन्त्यशब्दानि तिष्ठति। तावद्वर्षसहस्राणि तत्कतुर्दिवि संस्थितिः।।
   अग्निपुराण, अध्याय-38, श्लोक-48, 49
3. स्वस्तिको मुक्तकोणश्च श्रीवत्सो हंससज्ञितः। रुचको वर्धमानश्च गरुडश्च गजस्तथा।।
   मृगराजश्च पद्मश्च वलभी चेति ते स्मृताः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 55, श्लोक-4
4. नन्द्यावर्तश्च पूर्णश्च सिद्धार्थः सिरव (शङ्ख) वर्धनः। त्रैलोक्यभूषणश्चेति पद्मासु (स्तु) ब्रह्मणः प्रियः।।
   पक्षबाहुर्विशालश्च तथान्यः कमलोद्भवः। हंसध्वज इति ख्याताः प्रासादा ब्रह्मणः प्रियाः।।
   लक्ष्मीधराक्ष (2021) : प्रासादो वस्त (स) तौ मधुविद्विषः। महाव्रजो रतितनुः सिद्धकामस्तथापरः।।
   पञ्चचामरसंज्ञश्च नन्दिघोषाख्य एव च। अनुकीर्णः सप्रभश्च सुरानन्दोऽथ हर्षणः।।
   दुर्धरो दुर्जयश्चैव त्रिकूटो नवशेखरः। पुण्डरीकः सुनाभश्च महेन्द्रः शिखिशेखरः।।
   वंयठः सुमुखः शुद्धश्चत्वारिंशदितीरिताः। मिश्रकास्तु दश प्रोक्ता मिथः कर्मप्रमेदतः।।
   विज्ञेयो नन्दसंज्ञश्च महाघोषस्तथापरः। बृद्धिरामामिधानश्च प्रासादोऽन्यो वसुन्धरः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-57, श्लोक-4-10

पर्वतराज है।

इसमें बीस देवप्रासाद मेरु आदि के हैं। मेरु नामक देवप्रासाद की विरचना विविध भूमिकों में करनी चाहिए और इन भूमिकों में विविध विन्यासों एवं नाना भंगिमों (आकृतियाँ) से विनिर्मित स्तम्भों का निवेश करना चाहिए। फिर उन पर शुभ लक्षण वाले स्थापत्य कर्म के चित्रकौशल से उसकी भूषा सम्पादित करनी चाहिए। विशेषकर चन्द्रशाला आदि से संयुक्त चारु, चामर आदि से भूषित करना चाहिए। इन भूमिकों पर सुन्दर-सुन्दर चित्रों की योजना करनी चाहिए। जैसे लहराती हुई जीभ वाले व्याल, मकर, मदस्त्रावी गज, विद्याधर-वधूवृन्द आदि और क्रीड़ा करती हुई सुन्दरियां, हाथ में वीणा लिये हुए किन्नर, सिद्ध, गंधर्व एवं यक्षों के वृन्द अप्सराओं, नाग-कन्याओं के सुन्दन एवं विविध प्रकार के चित्र बनाने चाहिए।[1]

**प्रासादस्तवनं**- "प्रासादस्तवनं" नामक इस 58वें अध्याय में समराङ्गणकार ने शिव आदि आठ प्रमुख देवों के आठ-आठ प्रासादों का वर्णन किया है जिनकी संख्या चौंसठ हैं यथा :—

**शंकर के आठ प्रिय प्रासाद** – विमान, सर्वतोभद्र, गजपृष्ठ, पद्मक, वृषभ, मुक्तकोण, नलिन, द्राविड़।

**विष्णु के प्रिय आठ प्रासाद**- गरुड़, वर्धमान, शंखावर्त, पुष्पक, गृहराज, स्वस्तिक, रुचक, पुण्ड्रवर्धन।

**ब्रह्मा के प्रिय आठ प्रासाद**- मेरु, मन्दर, कैलास, हंस, भद्र, उत्तुंग, मिश्रक, मालाधर।

**सूर्य के प्रिय आठ प्रासाद**- गवय, चित्रकूट, किरण, सर्वसुन्दर, श्रीवत्स, पद्मनाभ, वैराज, वृत्त।

**चण्डिका के प्रिय आठ प्रासाद**- नन्द्यावर्त, जलाभ, सुपर्ण, सिंह, विचित्र, योगपीठ, घण्टानाद, पताकी।

**गणेश के प्रिय आठ प्रासाद**- गृहाराज, शालाक, वेणुभद्र, कुंजर, हर्ष, विजय, उदकुम्भ, मोदक।

**लक्ष्मी के प्रिय आठ प्रासाद**- महापद्म, हर्म्य, उज्जयन्त, गन्धमादन, शतशृंग, अनवद्यक, सुविभ्रान्त, मनोहरी।

**सर्वदेवसाधारण के प्रिय आठ प्रासाद**- वृत्त, वृत्तायत, चैत्य, किंकिणी, लयन, पट्टिश, विभव, तारागण।[2]

**विमानादिचतुष्षष्टिप्रासाद**- आलोच्य ग्रन्थ के 59वें अध्याय में विमानादि वतुष्षष्टि देवप्रासाद इस प्रकार से हैं- विमान, सर्वतोभद्र, पद्म, वृषभ, मुक्तकोण, नलिन, मणिक, गरुड़, वर्धमान, शङ्खावर्ता, पुष्पक,

---

1. विचित्रभूमिके (सप्तदशम्मिल्लिख्यराक्षणण्यपि?) स्तम्भै र्विविधविन्यासैर्बहुभङ्गविनिर्मितैः।।
भूषितैः कर्मभिश्चित्रैः सर्वत्र शुभलक्षणैः। चन्द्रशालादि संयुक्तैस्तोरणेश्चारुचामरैः।।
तथाक्षतमुखग्राससैर्धनरूपतया स्थितैः। व्यालैर्व्यालोलजिह्वश्च मकरपससंयुतैः।।
मदान्धालिकुलाकीर्णगजवक्रविभूषितै। विद्याधरवधूवृन्दैः क्रीडारम्भविभूषितैः।।
सुराणा सुन्दरीभिश्च वीणाहस्तैश्च किन्नरैः। सिद्धगन्धर्वयक्षाणां वृन्दैश्च परितः स्थितैः।।
जप्सरोभिश्चदिव्याभिर्विमानावलिभिस्तथा। चारूचामीकरान्दोलाक्रीडासक्तैश्च (निःसराम्)।।
नागकन्याकदम्बैश्च सर्वतः समलङ्कृतम्। एवविधाभिः सर्वत्र भूमिकाभिर्निरूतरम्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-57, श्लोक-18 से 24.

2. विमानः सर्वतोभद्रो गजपृष्ठोऽथ पद्मकः। वृषभो मुक्तकोणश्च नलिनो द्राविडस्तथा।।
गरुडो वर्धमानश्च शङ्खवर्तोऽथ पुष्पकः। ग्रहर (राट) स्वस्तिकश्चैव रुचकः पुण्ड्रवर्धन।।
मेरुमन्दरकैलासा हंसाख्यो भद्र एव च। उत्तुङ्गो मिश्रकश्चैव तथा मालाधरोऽष्टमः।।
गवयश्चित्रकूटश्च किरणः सर्वसुन्दरः। श्रीवत्सः पद्मनाभश्च वैराजो वृत्त स्व च।।
(नन्द्यावर्तश्चैव चलभश्चर्णादिख्यः?) सिंह एव च। विचित्रो योगपीठश्च घण्टानादपताकिनौ।।
गृहारसलोकश्च वेणुभद्रोऽथ कुञ्जरः। तथा च हर्षविजयावुदकुम्भोऽय मोदकः।।
महापद्म (हर्म्यननल) मुज्जयश्रन्तरस्तथा परः। गन्धमादनसंज्ञां च (ज्ञश्च) शतशृङ्गानवष्ककौ (नवद्यकौ)।।
वृत्तो वृत्तायतश्चैत्य किङ्किणीलयनाभिधः। पट्टिशो विभवाख्यश्च ततश्चा (स्ता) रागणा (णोऽ) षटम्।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-58, श्लोक-6-16

गृहराज, स्वस्तिक, पुण्ड्वर्धन, रुचक, मेरू, मन्दर, कैलास, हंस, भद्र, तुङ्ग, मिश्रक, गवय, चित्रकूट, किरण, सर्वसुन्दर, नन्द्यावर्त, बलभ्य, श्रीवत्स, पद्मनाम, वैराज, वृत्तक, सुपर्ण, सिंह, चित्रकूट, योगपीठ, घण्टानाद, पताकिन, गुहाधर, शालाक, वेणुकम, कुञ्जार, हर्षण, महाद्मम, हर्म्य, उज्जयन्त, गन्धमादन, निरवद्य, विभ्रान्त, मनोहर, वृत्तवृत्तायत्तौ, चैत्य, किङ्किणीक, पट्टिस, विभव, तारागण लयन आदि।

शीर्षक में 64 प्रकार के देवप्रासाद बताये गये हैं परन्तु आलोच्य ग्रन्थ में 56 प्रकार के ही देवप्रासादों का ही नामोल्लेख हुआ है।

**श्रीकूटादिषट्त्रिंशत प्रासाद :-** आलोच्य ग्रन्थ के "श्रीकूटादिषट्त्रिंशत" नामक 60वें अध्याय में नागर देवप्रासादों के भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि छत्तीस प्रकार के देवप्रासादों में श्रीकूट देवप्रासाद सबसे प्रथम देवप्रासाद है उसके बाद श्रीमुख, श्रीधर, वरद, प्रियदर्शन, कुलनन्दन, अन्तरिक्ष, पुष्पभास, विशालक, संकीर्णक, महानन्द, नन्द्यावर्त, सौभाग्य, विभंगक, विभव, बीभत्स, श्रीतुङ्ग, मानतुङ्ग, सर्वतोभद्र, बाह्योद्र, निर्यूहोदर, समोदर, नन्दिभद्र, भद्रकोश, चित्रकूट, विमल, हर्षण, भद्रसंकीर्ण, भद्रविशाल, भद्रविष्कम्भ, उज्जयन्त, मेरु, मन्दर, कैलास, कुम्भक, गृहराज।[1]

**मेर्वादिविंशिकानागरप्रासाद :-** आलोच्य ग्रन्थ के 63वें अध्याय में बीस नागर देवप्रासाद इस प्रकार बतलाये गये हैं यथा :- का वर्णन हुआ है यथा — मेरु, मन्दर, कैलास, कुम्भ, मृगराज, गज, विमानच्छद, चतुरश्र, अष्टाश्र, षोडशा, वर्तुल, सर्वतोभद्र, सिंह, नन्दन, नन्दिवर्धन, हंस, वृष, गुरुड़, पद्मक, समुद्र।[2]

इसमें मेरु नामक देवप्रासाद विचित्र शिखर से युक्त होता है, मन्दर देवप्रासाद बारह तल से युक्त तथा कैलास देवप्रासाद नौ भूमि से युक्त होता है। सर्वतोभद्र नामक देवगृह अनेक शिखरों वाला, भद्रशालाओं से विभुषित पांच खण्ड भूमि अर्थात् यह देवगृह पांच खण्डों का होता है।[3]

इस तरह नागर जाति के अन्तर्गत अनेक देवप्रासादों का वर्णन समराङ्गणकार ने अपने इस ग्रन्थ में किया है।

**देवप्रासाद के भेद** – "समराङ्गण सूत्रधार" में द्राविड़ देवप्रासाद का वर्णन समराङ्गणकार ने 62वें अध्याय में किया गया है। द्राविड़ देवप्रासादों की प्रमुख विशेषता भूमिका विधान से है। इसी के आधार पर बारह प्रकार के देवप्रासादों का वर्णन किया गया है। यथा —

एकभूमिका द्राविड़ प्रासाद, द्विभूमिका द्राविड़ भूमिका, त्रिभूमिका द्राविड़ प्रासाद, चतुर्भूमिका

---

1. श्रीधरो बदरश्चैव तथाभ्यः (न्यः) प्रियदर्शनः। कुलनन्दोऽन्तरिक्षश्च पृष्पभासो विशालकः।।
सङ्कीणऽिथ महानन्दो नन्द्यावर्तस्तथापरः। सौभाग्यश्च विभङ्गश्च विभवस्तदनन्तरम्।।
वीभत्सकोऽथ श्रीतुङ्गो मानतुङ्गस्तथापरः। (भवतो रुद्र?) संज्ञश्च भवद्वाह्योदरस्तचः।।
निर्यूहोदर (संज्ञोऽन्य) स्ततो ज्ञेयः समोदरः। नन्दिभद्रो भद्रकोशश्चित्रकूटस्ततः परम्।।
विमलो भद्रविशालाख्यो भद्रविष्कम्भ एव च। ततो भद्रविशालाख्यो भद्रविष्कम्भ एवं च।।
उज्जयन्ताभिधानश्च सुखे (मे) रुरथ मन्दरः। कैलासः कुम्भकाक्ष (ख्य) श्च गृहराजश्च नामतः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 60, श्लोक–2–7
2. विमानच्छन्दसंज्ञश्च चतुरश्रस्तथापरः। अष्टाश्रिः षोडशश्रिश्च वर्तुलः सर्वतोद (भद्र) कः।।
सिंहास्यो नन्दनो नन्दिवर्ध (मा?) नो हंसको वृषः। गुरुत्सा (गरुड़ः) पद्मकाख्यश्च समुद्र इति विंशतिः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–63, श्लोक–2–3
3. विचित्रशिखराकीर्णो मेरुः प्रासाद उच्यते। मन्दरो द्वादशतलः कैलासो नवभूमिकः।।
पञ्चभूं सर्वतोभद्रो भद्रशालाविभूषितः। अनेकशिखराकीर्णः कर्तव्यः प्रचुराण्डकः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 63, श्लोक–5, 7

द्राविड़ प्रासाद, पंचभूमिका द्राविड़ प्रासाद, षडभूमिका द्राविड़ प्रासाद, सप्तभूमिका द्राविड़ प्रासाद, अष्टभूमिका द्राविड़ भूमिका, नवभूमिका द्राविड़ प्रासाद, दशभूमिका द्राविड़ प्रासाद, एकादशभूमिका द्राविड़ प्रासाद, द्वादशभूमिका द्राविड़ भूमिका

**वावाट जाति के अनुसार भेद** – "दिग्भद्रादि प्रासाद लक्षण" नामक अध्याय में वावाट अर्थात् विराट जाति के अन्तर्गत देवप्रासादों के बारह भेदों का निरूपण हुआ है यथा :– दिग्भद्र, श्रीवत्स, वर्धमानरूपक, नन्द्यावर्त, नन्दिवर्धन, विमान, पद्म, महाभद्रा, श्रीवधमानक, महापद्य, पञ्चशाल, पृथिवीजय।[1]

**भूमिज जाति के अनुसार भेद** – "भूमिजप्रासाद" नामक अध्याय में इस जाति के तीन प्रकार का यथा — जिनमें निशद आदि चौकोर देवप्रासाद, कुमुद आदि सात वृक्षजातीय देवप्रासाद तथा स्वस्तिक आदि पञ्च अष्टाशाल देवप्रासादों का वर्णन हुआ है यथा– **निशद आदि चौकोर देवप्रासाद :–** मलयाचल, माल्यवान, नवमाली और निषध।[2] **वृक्षजातीय कुमुदादि देवप्रासाद** – आलोच्य ग्रन्थ में वृक्षजातीय कुमुदादि देवप्रासाद वर्णित हैं यथा– कुमुद प्रासाद, कमलप्रासाद, कमलोद्भव प्रासाद, शतश्रृंग प्रासाद, निरवद्यप्रासाद, किरण प्रासाद, सर्वांगसुन्दर प्रासाद।[3] **पञ्चअष्टशाल-स्वस्तिक देवप्रासाद–** स्वस्तिक, वज्रस्वस्तिक, हर्म्यतल, उदयाचल, गंधमादन।[4]

**ललित जाति** – लाट शब्द का तात्पर्य भौगोलिक दृष्टि से गुर्जर प्रदेश है प्राचीन तथा पराचीन दोनों ही समय में गुर्जर प्रदेश वास्तु-कला-कोविदों का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। गुर्जरों ने देवप्रासादों के निर्माण में बड़ी कीर्ति प्राप्त की थी। महाराजा भोज की नगरी धारा (मालव) गुर्जर प्रदेश के निकट ही थी। गुर्जर प्रदेश से पल्लवित विकसित तथा वृद्धिगत लाट शैली का प्रभाव मालव शैली पर भी पड़ा। इसी लाट जाति के अन्तर्गत मिक्षक तथा सान्धार जाति के देवप्रासाद का वर्णन हुआ है। आलोच्य ग्रन्थ के 56वें अध्याय "रुचकादिचतुष्षष्टिप्रासाद" नामक अध्याय में तीनों जातियों के चौंसठ देवप्रासादों का निरूपण हुआ है।

**ललित जाति के उत्तरवर्ती रूचकादि पचीस प्रकार :–** रूचक, भद्र, हंस, हंसोद्भव, प्रतिहंस, नन्द, नन्द्यावर्त, धराधर, वर्धमान, अद्रिकूट, श्रीवत्स, त्रिकूटक, मुक्तकोण, गज, गरुड़, सिंह, भव, विभव, पद्म, मालाधर, वज्रक, स्वस्तिक, शंकु, मलय, मकरध्वज। इनमें अट्ठारह प्रकार के देवप्रासाद चतुरस्त्र देवप्रासाद हैं इन्हीं में भव तथा विभव देवप्रासाद चतुरस्त्र आयताकार के हैं तो पद्म तथा मालधर देवप्रासाद वृत्ताकार प्रासाद हैं। मलय तथा मकर वृत्तायत देवप्रासाद हैं एवं वज्रक, स्वस्तिक तथा शंङ्कु नामक अष्टास्त्र देवप्रासाद हैं।[1]

---

1. प्रासादमथ (वारोयं?) वक्ष्यामो नामलक्षणैः। लक्षणै स्तेषु दिग्भद्रः श्रीवत्सो वर्धमानकः।।
नन्द्यावर्तश्चतुर्थः स्यात् पञ्चमो नन्दिवर्धनः। विमानश्च तथा पद्मो महाभद्राख्य एव च।।
श्रीवर्धमानकाख्यश्च महा (पद्मतोऽपि वा?)। एकादशः पञ्चशालो द्वादश पृथिवीजयः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 64, श्लोक–1–3
2. चत्वारश्चतुरश्राः स्युर्निषधो मलयाचलः। माल्यवान् नवमाली च निषधस्तेषु कथ्यते।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 65, श्लोक 4
3. (कि) रणः शतश्रृङ्गश्च निरवद्यस्तथापरः। सर्वाङ्गसुन्दरश्चेति प्रासाद वृत्त जाल्यः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 65, श्लोक 62
4. तेष्वाद्यः स्वस्तिकोऽन्यश्च वज्रस्वस्तिकसंज्ञितः। तृतीयो हर्म्यतलकश्चतुर्थ उदयाचलः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 65, श्लोक 141

**मिश्रक देवप्रासाद** – सुभद्र, योकिट, सर्वतोभद्र, सिंह केसरी, चित्रकूट, धराधर, तिलक, स्वस्तिक, सर्वांगसुन्दर।[2]

**सान्धार देवप्रासाद** – केसरी, सर्वतोभद्र, नन्दन, नंदिशालक, नन्दीश, मंदिर श्रीवृक्ष, अमृतोद्भव, हिमवान्, हिमकूट, कैलास, पृथ्वीजय, इन्द्रनील, महानील, भूधर, रत्नकूटक, वैड्र्य, पद्यराग, वज्रक, मुकुटोटकर, ऐरावत, राजहंस, गरुड़, वृषभ, प्रासाद राज मेरु, निर्गूढ़ देवप्रासाद, लता, त्रिपुष्कर, पञ्चवक्त्र, चर्तुर्मुख, नवात्मक।[3]

**पूर्ववर्ती रुचकादि विमान के चौंसठ प्रकार के भेद**– आलोच्य ग्रन्थ के 49वें अध्याय "रुचकादिप्रासाद" में समराङ्गणकार का कथन है कि ब्रह्मा ने जिन पांच व्योमयानीय विमानों की परम्परा में शिला, पकी हुई ईंट आदि सामग्री से विनिर्मित पांच प्रमुख वैराजादि देवप्रासादों का निर्माण किया है उनमें देवप्रासादों को वैराज, कैलास, पुष्पक, मणिक तथा त्रिविष्टप की संज्ञा दी है। उनका आकार के विषय में वहां कहा गया है कि वैराज चतुरस्र आकार का, कैलास वृत्त आकार का, पुष्पक चतुरश्रायत आकार का, मणिक वृत्तायत आकार की तथा त्रिविष्टप अष्टाश्रि आकार का है।[4] इनमें से वैराज नामक चतुरस्र विमान चौबीस प्रकार का, कैलास नामक वृत्ताकार विमान दस प्रकार का, पुष्पक नामक चतुरस्रायत विमान दस प्रकार का, मनिक नामक वृत्तायत विमान दस प्रका का एवं त्रिविष्टिय नामक अष्टास्त्र भी दस का होने के कारण यह सभी मिलकर चौंसठ प्रकार के देवप्रासाद बनते हैं।[5]

लाट देवप्रासादों के उत्तरावर्ती चौंसठ प्रभेदों की अवतारणा करते समय "समराङ्गणकार" का कथन है कि जिन पांच विमानों का वर्णन जो पूर्ववर्ती वर्ग में हुआ है अर्थात् आलोच्य ग्रन्थ के के 49वें अध्याय में जिन विमानों का वर्णन हुआ है उन्हीं विमानों की आकृति लिए हुए इन चौंसठ

---

1. रुचको भद्रकश्चैव हंसो हंसोद्भवस्तथा। प्रतिहंसस्तया नन्दो नन्द्यावर्तो धराधरः।।
 वर्धमानोऽप्रिकूटश्च श्रीवत्सोऽथ त्रिकूटकः। मुक्तकोणो गजश्चौव गरुडः सिंह एव च।।
 भवश्च विभवश्चैव पद्मो मालाधरस्तथा। वज्रकः स्वस्तिकः शङ्कुर्मलयो मकरध्वजः।।
 रुचका (द्य) ष्टादशैषां चतुरश्राः प्रकीर्तिताः। भवश्च विभवश्चैव चतुरश्रायतोऽथवा।।
 पद्मो मालाधरश्चैव वृत्तावेतावुदाहतौ। भलयो मकराख्योऽथ द्वौ तु वृत्तायताविभौ।।
 वज्रकः स्वस्तिकः शङ्कुटित्थमष्तश्चयस्त्रयः। ललिताः कचिता ह्येते ब्रमोऽन्यान् मिश्रकानथ।।
 समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 56, श्लोक–9 से 11, 13 से 15
2. सुभद्रो मोकिटश्च सर्वतोभद्र एव च। सिंकेसरीसंज्ञोऽन्यश्चित्रकूटो धटाधरः।।
 तिलकाख्या स्वतिलकस्तथा सर्वाङ्गसुन्दरः। नवामी मिश्रकाः प्रोक्ताः कथ्यन्ते (साथकारिकाः?)।।
 समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 56, श्लोक–16–17
3. केसरी सर्वतोभद्रो नन्दनो नन्दिशालकः। नन्दीशो मन्दिराख्यश्च श्रीवृक्षश्चामृतोद्भवः।।
 हिमवान् हिमकूटश्च कैलासः पृथिवीजयः। इन्द्रनीलो महानीलो भूधरो रत्नकूटकः।।
 वैड्र्यः पद्मरागश्च वज्रको मुकुटोत्कटः। ऐरावतो राजहंसो गरुड़ो वृषभस्तथा।।
 मेरुः प्रासादराजश्च देवानामालयो हि सः। संयोगे तु संघारान् कथयामो यथाविधिः।।
 लतात्रिपुष्पकराख्यौ च पञ्चवक्त्रश्चतुर्मुख। नवात्मकश्च निर्गूढ़ः प्रासादाः पञ्च संज्ञिताः।।
 समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 56, श्लोक–18–22
4. तानि वैराजकैलासे पुष्पकमणिकाभिधम्। हैमानि मणिचित्राणिनमं च त्रिविष्टपम।।
 वैराजं चतुरश्रं स्याद वृत्तं कैलास संज्ञितम्। चतुरश्रायताकारं विमानं पुष्पकंभवेत्।।
 प्रासादाश्च तदाकाराञ् शिलापक्केष्टकादिभिः। नगराणामलङ्कारहेतवे समकल्पत्।।
 वृत्तायतं च मणिकष्टाश्रि स्यात् त्रिविष्टपम्।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–49, श्लोक–3–7
5. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–49, श्लोक–10 से 20 तक

देवप्रासादों में प्रथम पचीस देवप्रासाद है वह देवप्रासाद कुछ विविधाकार के शिखर से युक्त तथा कुछ एक अण्ड से अलंकृत, कुछ तीन अण्डों से अलंकृत और कुछ पांच अण्डों से अलंकृत हैं।[1]

आलोच्य ग्रन्थ के 56वें अध्याय में बताया गया है कि इनका आपस में भेद थोड़ा ही है। ये देवप्रासाद समस्त कामनाओं को देने वाले हैं। स्वर्णनिर्मित अथवा राजनिर्मित ये देवप्रासाद देवलोक के लिए सतत् प्रिय हैं अर्थात् ऐसे देवप्रासादों में देवता निवास करते हैं। ये ही प्रासाद पीतल, तांबा आदि से निर्मित होकर इच्छानुकूल विचरण करने वाले पिशाचों, नागों तथा राक्षसों के लिए भी विहित हैं। ये ही देवप्रासाद पाताल में पाषाणों तथा स्फटिक (संगमरमर) से निर्मित निर्दिष्ट किये गये हैं। ईंट, काष्ट तथा पाषाण से निर्मित देवप्रासाद मर्त्यलोक अर्थात् इस भूतल के मानवों के लिए नन्दक हैं। बनाने वाले तथा बनवाने वाले दोनों के लिए सुखकारी अर्थात् कल्याणकारी हैं।[2]

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ में सर्वप्रथम नागर जाति, द्राविड़ जाति, विराट जाति, भूमिज जाति, लाट जाति, मिश्रक जाति, सान्धार जाति एवं निर्गूढ़ जाति शीर्षकों के अन्तर्गत सर्वप्रथम नागर जाति के 252, द्राविड़ जाति के 12, विराट जाति के 12, लाट जाति के 25, मिश्रक जाति के 9, सान्धार जाति के 25, निर्गूढ़ जाति के 5, भूमिज जाति के 16 तथा विमान जाति के 64 प्रकार के देवप्रासादों आदि का नामोल्लेख हुआ है। यह सभी मिलकर कुल 400 से अधिक प्रकार के देवप्रासाद बनते हैं।

**कर्तृ-कारक व्यवस्था** – जिस प्रकार वैदिक यज्ञों में पुरोहित को वरण कर यज्ञ करवाया है और यज्ञ के अन्त में आचार्य-पुरोहितों को दक्षिणा से तुष्ट कर यज्ञफल का भोगी होता है, उसी प्रकार देवप्रासाद बनवाने वाला स्थापक, आचार्य का वरण कर स्वयं यजमान की कोटि में आकर स्थपति के द्वारा देवप्रासाद निर्माण कार्य सम्पन्न करता है। स्थपति हुआ कर्ता (निर्माता) तथा यजमान हुआ कारक। परन्तु कर्त्ता स्थपति बिना स्थापक आचार्य वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मण के अकेले कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। विश्वकर्मा भी तो बिना ब्रह्मा की प्रेरणा एवं अध्यक्षता से विश्व रचना न कर सके, क्योंकि विश्वकर्मा इस विश्वरचना के एकमात्र कार्य प्रतीक थे न कि विचार प्रतीक, विचार प्रतीक तो ब्रह्मा है। उसी प्रकार विश्व के प्रतिकृत रूपी देवप्रासाद के निर्माण में विश्वकर्मा के वंशज स्थपति को बिना स्थापक आचार्य के कैसे सफलता मिल सकती हैं यही कर्त्ता और कारक के बीच का केन्द्र-बिन्दु हैं- जिसकी प्रेरणा से यह कार्य निष्पन्न होता है।

आलोच्य ग्रन्थ के आधार पर स्थापत्य चार प्रकार का होता है 1. शास्त्र, 2. कर्म, 3. प्रज्ञा तथा 4. क्रियान्वितशील अर्थात् आचरण। इस प्रकार लक्ष्य (उदाहरण) तथा लक्षण अर्थात् शास्त्र में निष्ठा रखने वाला नर ही स्थपति होता है। ऐसा शास्त्रज्ञ स्थपति को सामुद्र (सामुद्रिक शास्त्र) गणित, ज्योतिष, छन्दस, शिरा-ज्ञान, शिल्प तथा यन्त्र कर्म वास्तु शास्त्र के इन अङ्गों को समझकर बुद्धिमान स्थपति को लक्षणों को समझकर उनके अनुसार कार्य करना चाहिये।

महाराज भोज का कथन है जो व्यक्ति शास्त्र को जानकर कार्य-संचालक स्थपति होने का

---

1. शिखरैर्विविधाकारैरेनाण्डेन भूषिताः। केचिदण्डत्रयोपेताः केचित् पञ्चाण्डकान्विताः।।
2. ईषद्भेदेन ते ज्ञेयाः प्रासादः सर्वकामदाः। सौवर्णा राजताश्चैव देवानां सततं प्रियाः।।
   मणिमुक्ताप्रवालाद्यैर्भूषणैः सुविभूषिताः। रीतिकाताम्रघोषाद्यैः पिशाचोरगरक्षसाम्।।
   देवलोक भवन्त्येते कामस्वच्छन्दचारिणः। पाताले चापि निर्दिष्टाः पाषाणैः स्फटिकैस्तथा।।
   इष्टकाकाष्ठपाषाणेर्मर्त्यलोकेऽपि नन्दकाः। सुखदाश्च अवन्त्येते कर्तुः कारमितुस्तथा।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 56, श्लोक-3-7

ढोंग करता है, उस राजहिंसक कुरुस्थपति को राजा मृत्यु के समान मारे क्योंकि ऐसा स्थपति मिथ्या-ज्ञान के कारण अहंकारी होता है और ना ही शास्त्र में परिश्रम किया होता है। वह स्थपति संसार में लोगों की अकारण मृत्यु के समान विचरण करता है और जो स्थपति जो केवल शास्त्र को जानता है और कर्म को नहीं जानता है।[1] ऐसा स्थपति उस डरपोक के समान होता है क्रियाकाल में युद्ध को देखकर मोह को प्राप्त होता है। इसके विपरीत जो स्थपति केवल कर्म को ही जानता है और शास्त्र के अर्थ को नहीं जानता, वह अन्धे आदमी के समान होता है जो दूसरों के द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलता है।[2]

राजा भोज ने आलोच्य ग्रन्थ में कहा है कि जो स्थपति कर्मवित् एवं कर्मदक्ष होता है तथा वास्तु, शिल्प एवं चित्र के कर्मों को ठीक से जानता है और वास्तु-विधान का पूरा ज्ञान रखता है तथा रेखा-चित्रों आदि में वास्तु अर्थात् विनिवेश्याविनिवेश्य स्थानों के मान (प्रमाण) उन्मान (विशिष्ट मान) के साथ सम्बन्धित अखिल कर्मों के कौशल की अनिवार्य योग्यता स्थपति में होनी चाहिए। ज्ञानी, वाग्मी और कर्मनिष्ठ एवं कर्म कुशल होने पर भी स्थपति श्रेष्ठ नहीं हो सकता क्योंकि शील (आचार) अर्थात् ईमानदारी से रहित है। रोष से, द्वेष से, लोभ से, मोह से और राग से अपनी दुःशीलता के कारण इन अवगुणों से युक्त स्थपति श्रेष्ठ नहीं हो सकता।[3]

राजा भोज के अनुसार शीलयुक्त स्थपति ही लोक में पूजित होता है, शीलवान स्थपति सज्जनों के द्वारा भी समर्थित होता है तथा शीलवान स्थपति ही सब कर्मों के योग्य है। ऐसा शीलशाली स्थपति का दर्शन प्रिय-दर्शन के समान होता है। इसलिए शील की प्राप्ति एवं निष्ठा में स्थपति को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। शील से ही कर्मों की सिद्धि होती है और वे ही कर्म कल्याणदायक होते हैं जो शीलवान स्थपतियों के द्वारा सिद्ध होते हैं।[4]

समराङ्गणकार का कथन है कि स्थपति में आठ प्रकार के कर्मों का ज्ञान-सम्पादन होना परमावश्यक है। आलेख्य अर्थात् चित्रकारी में, लेख्यजात अर्थात् लेप कर्म, दारुकर्म, काष्ठ-कला, चय (चुनाई), पारा, पत्थर, धातु, सोना आदि की कारीगरी और शिल्प-कर्म इन गुणों से युक्त स्थपति ही पूजित होता है। इन आठ अङ्गों से युक्त चार प्रकार का स्थापत्य (शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा तथा शील) को जो विशुद्ध बुद्धि वाला स्थपति जानता है, वह शिल्पियों के समाज में पूजित होता है, उत्कृष्ट प्रतिष्ठा

1. शास्त्र कर्म तथा प्रज्ञाशीलं च क्रिययान्वितम्। लक्ष्यलक्षणयुक्तार्थशास्त्रनिष्ठो नरो भवेत्।।
सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च। सिरज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा।।
एतान्यङ्गानि जानीयाद् वास्तुशास्त्र बुद्धिमान। शास्त्रानुसारेणाभ्युद्य लक्षणनि च लक्षयते।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-44, श्लोक-2-4
2. हन्तव्यः स स्वयं राजा मृत्युवद् राजहिंसकः। मिथ्याज्ञानादहङ्कारी शास्त्रे चैवाकृतश्रमः।।
अकाल मृत्युलौकस्य विचरेद् वसुधातले। यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।।
स मुह्यति क्रियाकाले हष्ट्वा भीरुरिवाहम्। केवलं कर्म यो वेति शास्त्रार्थ नाधिगच्छति।।
सोऽचक्षुखि नीमेत विवशोऽन्येन वर्त्मसु। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-44, श्लोक-7-9
3. ज्ञानवाश्चं तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः। एवं युक्तोऽपि न श्रेयाम् यदि शीलवर्जितः।।
शेषाद् द्वेषात् तथा लोभान्मोहाद् रागात् तथैव च। अन्यचिन्त्यत्वमायाति दुःशीलानामविक्षयात्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-44, श्लोक-16-17
4. शीलवान पूजितो लोके शीलवान साधुसम्पतः। शीलवान सर्वकर्मार्हः शीलवान प्रियदर्शनः।।
शीलधाने परं यत्रमाधि (ति) ष्ठते स्थपतिः सदा। ततः कर्माणि सिहयन्ति जनयन्ति शुभानि च।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-44, श्लोक-18-19

प्राप्त करता है और चिरायु होता है।[1]

विभिन्न मन्दिरों की कर्तृ-कारक व्यवस्थता भी एक-सी नहीं है। इस तथ्य पर समराङ्गण सूत्रधार के 56वें अध्याय में वर्णन मिलता है कि मेरु नामक प्रासादराज का कर्त्ता क्षत्रिय एवं स्थपति वैश्य होता है। इस मेरु नामक प्रासाद राज का ऐसा विधान करने से यह दोनों को आनन्दित करता है। यदि वास्तु के विधान का ज्ञान रखने वाला वास्तुशास्त्र विधि का ज्ञाता क्षत्रिय स्थपति होता है तो उसके सत्य पावनत्व एवं शौर्य का नाश हो जाता है। मेरु नामक प्रासाद के लिए यदि ईश्वर भी ब्राह्मण बनता है तो कर्त्ता को पीड़ा पहुँचता है और उसकी पूजा भी वैसी नहीं होती और वास्तु शास्त्र का ज्ञान रखने वाला ब्राह्मण व्यापार करने वाला एवं धनवान होने पर भी इसका स्थपति होता है।

कर्त्ता एवं स्थपति का वह सभी ब्राह्मणों में निर्देश करता है और वहाँ निवास करने वाले देवता उसकी सभी प्रकार की वृद्धि करते हैं वास्तुशास्त्र की विधियों को जानकर जो वैसा-वैसा करवाता है। यदि क्षत्रिय राजा मेरु का कर्त्ता होता है तो उसका राष्ट्रभंग होता है, प्रजा दशों दिशाओं में भाग जाती है। क्षत्रिय राजा यदि कर्त्ता स्थपति बनता है तो मेरु नामक देवप्रासाद की पूजा होती है और क्षत्रिय को अक्षय पद की प्राप्ति होती है।[2]

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ समराङ्गण सूत्रधार में देवप्रासाद के निर्माण के हेतु, प्रयोजन, देवप्रासाद के प्रकार तथा कर्तृ एवं कारक व्यवस्था विषयक तात्त्विक एवं विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है जिससे सिद्ध होता है कि देवप्रासाद निर्माण कोई सरल कार्य नहीं है। यह कार्य बड़ा ही दुष्कर एवं प्रयतन से किया जाने वाला लोक हितकारी शुभ कर्म है।

---

1. तथाचाष्टविधं कर्म ज्ञेयं स्थपतिना सदा। आलेख्य लेख्यजातं च दारुकर्म चयस्तथा।।
पाषाणसिद्धहेम्नां च शिल्पं कर्म तथैव च। एभिर्गुणैः समायुक्तः सपितिर्याति पूज्यताम्।।
स्थापत्य मङ्गैरिदमष्टभिर्यश्चतुर्विधं वेति विशुद्धबुद्धिः।
स शिल्पिनां संसदि लब्धपूजः पंटां प्रतिष्ठां लभते चिरायुः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-44, श्लोक-20-22

2. मेरोः प्रासादराजस्य देवानामालयस्य च। कर्त्ता क्षत्रिय एवास्य वैश्य (श्योऽ) स्य स्थपति र्भवेत्।।
वास्तुशास्त्रविधिज्ञोऽपि क्षत्रियः स्थपतिर्यदि। तदास्य सत्यं शौचं च विक्रमश्च विनश्यति।।
एवं वीयमानेऽस्मिन मैरा द्वादपि नन्दतः। वास्तुशास्त्र विधिज्ञोऽपि क्षत्रियः स्थपतिर्यदि।।
तदास्य सत्यं शौचं च विक्रमश्च विनश्यति। ईश्वरोऽपि यदा विप्रो मेरुप्रासादकृद् भवत्।।
कर्तृः कारयितुः पीडा पूजा चास्य न तादृशी। ब्राह्मणः स्थपतिश्चास्य वास्तुशास्त्रे विशारदः।।
वणिकर्मणि वर्तेत धनवानपि यद्यासौ। सर्वविप्रेषु निर्दिष्टः कर्त्ता स्थपति रेव सः।।
तत्रस्था देवताः सर्वास्तस्य वृद्धिः कथञ्चन। वास्तुशास्त्रविधिज्ञोऽपि ततः कारयिता यदि।।
राजापि क्षत्रियः कर्त्ता मेरु (रो) र्भवेत् तदा। राष्ट्रभङ्गो भवेत् तस्य प्रजा यान्ति दिशो दस।।
क्षत्रिय नरेन्द्रेण कर्त्ता स्थपतिना यदि। मैरोः पूजा भवेत् तत्र क्षत्रियोऽप्यक्षयं पदम्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-56, श्लोक-36-43

## तृतीय अध्याय

# देवप्रासाद के निर्माण की विधि

**भूमि चयनः-** "भूमि परीक्षा" के अन्तिम दो पद्यों में कहा गया है कि- "इस प्रकार से पूर्ण लक्षणों से पुरोचित भूमियों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार से खर्वट, ग्राम तथा खेट की भूमियाँ भी समझनी चाहिये और ब्राह्मणादि वर्णों के भवनों के लिए, राजाओं के शिविरों के लिए तथा देवों के प्रासादों के लिए तथा यज्ञवाटों के लिए भी ये ही शुभ और अशुभ मानी गई हैं"।[1] इसका तात्पर्य यह है कि आलोच्य ग्रन्थ में "भूमि परीक्षा" नामक अष्टम अध्याय में महाराजा भोज ने पुरनिवेश एवं भवन निवेश के अध्याय में किसी भी वास्तु निर्माण के अवसर पर, चाहे वह साधारण जनोचित आवास भवन हो अथवा राजोचित हर्म्य या देवोचित मन्दिर सभी के निवेश के लिए भूमि के चयन, उसकी परीक्षा उसके सन्तुलन (लेविलिंग), कर्षण, वपन आदि के निर्देश का यथोचित विचार किया है।

सर्वप्रथम जांगल, अनूप, साधारण के लक्षणों से युक्त भूमियों के सोलह प्रकार बताये गये हैं यथा- बालिश-स्वामिनी भोग्या, सीता-गोचर-रक्षिणी, अपाश्रयवती, कान्ता, खनिमती, आत्म-धारिणी, वणिक्प्रसाधित, द्रव्यवती, अमित्र-घातिनी, आश्रेणी-पुरुषा, शक्य-सामन्ता, देवमातृका, धान्य-शलिनी, हस्तिवनोपेता और सुरक्षा।[2]

1. **बालिश-स्वामिनी** – जो भूमि बालिश राजा के द्वारा भी शसित की जा सकती है और जहाँ पर भद्र पुरुष रहते हैं, उसको "बालिश-स्वामिनी" भूमि कहते हैं।
2. **भोग्या**- जहाँ पर सुन्दर कान्ति वाले पुरुष भाग अर्थात् अपनी पैदावार का भाग भोगादिक कर अधिकतया देते हैं, उसको "भोग्या" भूमि कहते हैं।
3. **सीता-गोचर-रक्षिणी** – जिस पृथ्वी पर पर्वत के मध्य में अथवा बाहर नदियाँ और नद पाये जाते हैं और जिसकी सीमा और क्षेत्रादि विभक्त हैं उसको "सीता-गोचर-रक्षिणी" पृथिवी कहते हैं।
4. **अपाश्रयवती** – जिस भूमि की सरिताओं, उसके पर्वतों और वनों में मनुष्य बड़े भय से प्रवेश करता है और जो मनुष्यों के आश्रय के उपयुक्त न हो उसे "अपाश्रयवती" भूमि कहते हैं।
5. **कान्ता** – जहाँ पर पर्वत, सरिताओं और कुञ्जों से भूमि रमणीक प्रतीत होती है, जहाँ पर मनुष्य रहने के लिए लालायित रहते हों, उसको "कान्ता" भूमि कहते हैं।
6. **खनिमती** – जिस पृथिवी पर सोना, चांदी आदि धातुएँ सैदव पैदा होती हों और जहाँ नमक खूब पाया जाता हो, उसे "खनिमती" पृथिवी कहते हैं।[3]
7. **आत्म-धारिणी** – जो भूमि दंड-कोष तथा आसन अर्थात् राजा के दरबार में आसन आदि से

---

1. प्रासादयज्ञवाटानमेता एवेष्टदा भुवः। इत्येवमादिभिरिमाः शुभलक्ष्मयुक्ताः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-76
2. आश्रेणीपुरुषा शक्यसामन्ता देवमातृका। धान्या हस्तिवनोपेता सुरक्षा चेति षोडश।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-8
3. भूभुजा बालिशेनापि शक्यते या प्रशासितुम्। या च भद्रजना सा स्याद् बालिशस्वामिनी क्षितिः।।
वितरन्त्यधिकं यस्यां भागभोगादिकान् करान्। नरा भूरिश्रियः सात्र भोग्येति क्षितिरुच्यते।।
यस्यां नदाश्च नद्यश्च गिरिर्मध्येऽथवा बहिः। विभक्तक्षेत्रसीमा सा सीतागोचररक्षिणी।
सरिदद्रिवनाद्येषु त्रासाद् यस्यां विशेजनः। जनापाश्रययोग्यत्वादपाश्रयवतीति सा।।
वनोपवनवत्यद्रिसरित्कुञ्जमनोहरा। देहिनो रमयत्युर्वी या सा कान्तेति कीर्तिता।।
यस्यां सदैव जायन्ते कलधौतादिधातवः। लवणानि च भूयांसि प्राहु खनिमतीति ताम्।इ समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8/10-15

(अर्थात् जहाँ के लोग दंड के भय से और धन और नौकरी के लोभादि से भी वश्य न हों) वशीकृत न किये जा सकें और जहाँ पर आदमियों का निवास न्यून मात्रा में पाया जाता है, उस भूमि को "आत्म-धरिणी" कहते हैं।

8. **वणिक्-प्रसाधिता** – जहाँ पर बाजार में बेचने-खरीदने योग्य वस्तुएँ निरन्तर प्रसिद्ध हों और वैश्यों से जो प्रसाधित एवं अलंकृत हो, उसको "वणिक्-प्रसाधिता" भूमि कहते हैं।

9. **द्रव्यवती** – जो भूमि शाक, अश्वकर्ण (वृक्ष-विशेष), खदिर (खैर), श्रीपर्णी (वृक्ष विशेष), स्यन्दन, आसन, बांस, वेत्र, शर आदि वृक्षों से युक्त हो, उसको "द्रव्यवती" भूमि कहते हैं।

10. **अमित्र घातिनी** – जहाँ पर जनपद (देश) ठीक प्रकार से विभक्त हैं और विक्रम को छोड़े हुए हैं, अर्थात् परस्पर लड़ाई-झगड़ा नहीं करते और जहाँ पर मित्र लोग परस्पर मेल रखते हैं उसको "अमित्र-घातिनी" भूमि कहते हैं।

11. **आश्रेणी-पुरुषा** – जिस भूमि पर किले में बन्द क्षुद्र कैदी न हों, जो विनीत पुरुषों के द्वारा परिपूरित हो, उस भूमि को "आश्रेणी-पुरुषा" भूमि कहते हैं।

12. **शक्य-सामन्ता** – जहाँ पर सामन्त अर्थात् माँडलिक राजा मन्त्र एवं उत्साहादि से पराङ्मुख रहते हैं, उस प्रकार की भूमि को "शक्य-सामन्त" कहते हैं।

13. **देव-मातृका** – जहाँ पर मेघादि की प्रतीक्षा न कर नदी आदि के जलों से लोग अपनी खेती करके निर्वाह करते हैं, उस भूमि को "देव-मातृका" कहते हैं।[1]

14. **धान्या** – जहाँ पर बोये गए बीज बिना प्रयास के ही अधिक पैदा होते हैं तथा जहाँ पर जुते हुए खेत कभी बाढ़ आदि से नष्ट नहीं होते हैं, उस कुष्टानुपहत-क्षेत्र-भूमि को "धान्या" कहते हैं।

15. **हस्तिवनोपेता** – जिस भूमि के पर्यन्त पर्वतों में हाथियों के वन पाये जाते हैं और जो राजा की सैन्य-वर्धनक्षम हो, उसको "हस्तिवनोपेता" भूमि कहते हैं।

16. **सुरक्षा** – जो भूमि नित्य विषम होने के कारण शत्रुओं के द्वारा काबू में न की जा सके और जो विषम पहाड़ों और नदियों के द्वारा रक्षित हो, उसको "सुरक्षा" भूमि कहते हैं।[2]

**जनपद ग्रामादि के निवेश हेतु प्रशस्त भूमि –**

सोलह प्रकार की भूमि के वर्णन के उपरान्त ग्राम एवं नगरादि के बसाने योग्य प्रशस्त भूमियों का वास्तु-शास्त्र के अनुसार वर्णन किया गया है कि "जो भूमियाँ धातुओं के स्पन्दन से शोभित कुंजों, गुल्मों, वृक्षों, लताओं आदि से ढके हुए और बड़ी-बड़ी शिलाओं वाले पर्वतों से चारों तरफ से घिरी हों, तीर्थों के अवतार नहाने योग्य सुन्दर मीठे जल वाली नदियाँ जहाँ अधिक पाई जाती हों और जिन नदियों के किनारे चित्र-विचित्र पेड़ों से सुशोभित हों, जिन

---

1. यात्यन्तं नानुगृह्येत दण्डकोशासनादिभिः। स्फीतलोकाश्रया या च सा स्याद् भूरात्मधारिणी।।
प्रसिध्यन्त्यसकृद यत्र पण्योपक्रयविक्रयाः। वणिक्प्रसाधितेत्युक्ता सा भूर्वणिगलङ्कृता।।
शाकाश्वकर्णखदिरश्रीपर्णीस्यन्दनासनैः। वेणुवेत्रशराद्यैश्च युक्ता द्रव्यवतीति भूः।।
मन्त्रोत्साहादिवैमुख्यं यस्यां सामन्तभूभुजः। भजन्ते सा स्मृता शक्यासामन्ता भूः समन्ततः।
जीवन्ति क्षेत्रिणो यस्यां नदनद्यादिवारिभिः। तां देवमातृकेत्याहुरनपेक्षितवारिदाम्।।
समराङ्गगण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-16 से 18, 21 से 22

2. निष्पद्यन्तेऽधिकं यस्यां बीजान्युप्तान्ययत्नतः। कुष्टानुपहतक्षेत्रा धान्या सा धान्यशलिनी।।
पर्यन्तेष्वद्रयो यस्यां या च हस्तिवनाश्रिता। सा हस्तिवनवत्युर्वी भूभृतः सैन्यवर्धिनी।।
दुष्प्रधृष्यैव या नित्यं विषमत्वादरातिभिः। विषमद्रिसरिदगुप्ता सा सुरक्षेति भूः स्मृता।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक 23 से 25

भूमियों के वनों में कोकिलाओं के मधुर आलाप हो रहे हों, जहाँ पर मधुमत भौंरे गुंजार कर रहे हों और चित्र-विचित्र फल-पुष्पों से जो सुशोभित हों, जिस देश में पानी का अधिक्य हो, भरे पूरे तालाब, देवखात आदि जलागार हों, जिनमें कमलों पर भौंरों की रेणी गुंजार करती हुई शोभा दे रही हों, जो बराबर सुगन्धयुक्त, सुन्दर, शीतल एवं अभंगुर तथा अक्षत सीमा वाले धान्या को उत्पादन करने वाले क्षेत्रों से ढकी हुई हों, ऐसे गोचरों अर्थात् चरागाहों से शोभित हों, जिनकी क्षेत्र सीमाएँ विभक्त हैं और जहाँ बहुतायत से घास और ईंधन पाये जाते हैं[1] और बिना कांटे वाले वृक्ष और सुडौल पत्थर एवं वाल्मीक भी हों, छोटे-छोटे सुन्दर श्यामल-शस्य समुद्रों के अन्तरावकाश में प्राप्त मीठे और शीतल जल वाली वसुधाराएँ जहाँ प्रशस्त मानी गई हों, जो भूमियाँ दुष्टों के द्वारा सताई नहीं जा सकती और जहाँ पर अनेक घर बनाये गये हैं, जहाँ पर भय और व्याकुलता का नाम नहीं है और जहाँ पर मन खूब रमता है — ऐसे गुणों से युक्त भूमियों पर यथास्थान जनपद, खेटक ग्राम, पुरादि का विनिवेश करना चाहिये।[2]

तत्पश्चात् दुर्ग (किला) पुर एवं ब्राह्मणादि वर्णों के लिए ग्रामादि का निवेश करने के लिए उचित या प्रशस्त भूमियों का विवरण दिया गया है यथा :-

**दुर्ग निवेश हेतु प्रशस्त भूमि**- दुर्ग यानि किले के योग्य चार प्रकार की प्रशस्त भूमियाँ बताई गई हैं- 1. पर्वत, 2. वन, 3. जल तथा 4. प्राकार। इनमें से गिरि-दुर्ग अर्थात् पर्वत पर किले के योग्य उस भूमि को कहा गया है जो दुरारोहता के कारण भीतर से छेनी से काट-काटकर समतल बनाई जाती है। जंगल में बनाने योग्य किले के उपयुक्त भूमि ऐसे जंगल में होनी चाहिये। जहाँ का रास्ता बड़ा ही गूढ़ अर्थात् सघन हो और जहाँ पर कांटे वाले पेड़ हों और जलाशय अर्थात् तालाब पाये जाते हों। जल दुर्ग के लिए उपयुक्त वह पृथ्वी बताई गई है। जहाँ स्वादु जल वाले द्वीपों में अगाध जल भरा हुआ हो तथा जल के बाहर रमणीक प्रान्त-भूमियाँ दिखाई पड़ती हों।[3]

पुर निर्माण के लिए ऐसी भूमि कही गई हैं जो आलोच्य ग्रन्थ में स्निग्ध, सारवाली, शुद्ध, दक्षिण में जलाशयों से युक्त, बहुत पानी वाली, घने वृक्षों से ढकी हुई और पूर्व की ओर जिनका प्लव हो[4], दूब, औषधियाँ, मूँज, कुरुन्द, कुश और बल्कल घिरे आदिकों की बहुतायत हों, स्वादु और स्वच्छ पानी के जहाँ जलाशय हों, वास्तु, यज्ञों, देवमन्दिर, आराम, उद्यान आदि से जो सम्भृत हों, तड़ाग और वापियों के स्थान से सुशोभित हों, जहाँ पर वाहन सुखपूर्वक चल सकते हों और मिथुनों के लिये जहाँ

---

1. धातुस्यन्दोल्लसत्कुञ्जगुल्मद्रुमलतावृतेः। उत्सङ्गिताः पृथुशिलेः समन्तादवनीघरैः।।
तीर्थावतारकान्ताभिः स्वादुतोयाभिरावृताः। नदीभिः पुलिनप्रान्तैविचित्रद्रुमशलिभिः।।
कोकिलालापसुभगैर्मधुमत्तालिशालिभिः। विचित्रफलपुष्पाढयैः काननैरूपशोभिताः।।
दलत्कुवलयश्रेणीक्वणन्मधुपहारिभिः। सरसीदेवखाताद्यैर्भूषिताः प्राज्यवारिभिः।।
निष्कण्टकारमवल्मीकैः प्रभूतयवसेन्धनैः। विभक्तक्षेत्र सीमान्तै र्गोचरैरूपशोभिताः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8/27-31
2. तास्वेंगुणयुक्तासु महीषु विनिवेशयेत्। यथास्थानं जनपदान् खेटग्रामपुरादि च।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8/35
3. युता महीध्रमला (स्व ?म्बु) प्राकारैस्तु पृथक्पृथक्। चतस्रः कीर्तिता धन्या भूमयो दुर्गहितवः।
दुरारोहतया दुर्गे टङ्कच्छिन्न इवान्ततः। समपृष्ठेऽम्बुयुक्ताद्रौ गिरिदुर्गावनिर्भवेत्।।
कण्टकिद्रुमनीरन्ध्रनद्धे साम्भसि कानने। गुढ़प्रवेशमार्गे भूर्मूलदुर्गेति कीर्तिता।।
द्वीपेषु स्वादुतोयेषु बह्यागाधजला बहिः। रम्थावकाशदेशा स्याज्जलदुर्गा च मोदिनी।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-36 से 40
4. स्निग्धाः सारभृतः शुद्धाः प्रदक्षिणजलाशयाः। बहूदकास्तरुच्छन्ना निबिडाः प्रागुदक्प्लवाः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-36 से 40

पर रतिप्रद स्थान पाये जाते हों क्योंकि ग्रन्थकार को भूमियों पर नगर, पुर एवं ग्राम आदि के निवेश अभीष्ट हैं। यानि जो भूमियाँ उपरोक्त गुणों से युक्त हों उन पर ही नगर, पुर तथा ग्राम स्थापित किये जाने चाहिए।

**ब्राह्मणादि के ग्रामादि निवेश हेतु प्रशस्त भूमि-** ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदि चारों वर्णों के निवास योग्य प्रशस्त भूमियों के विषय में बताया गया है कि जो भूमियाँ कुंकुम, अगरू, कपूर, इलायची, चन्दन आदि वृक्षों से मिश्रित रूप में अथवा अलग-अलग सुगन्धित हों[1], जो कमल (कल्हार), रक्तकमल, मालती, चम्पक, नील-कमल आदि स्थल अथवा जल में पैदा होने वाले पुष्पों से सुगन्धित हों, जो गो-मूत्र, गोमय (गोबर), दूध, दही, शहद, आज्य (यज्ञ-सामग्री) आदि पदार्थों की गन्ध धारण करने वाली हों, जो मदिरा, माध्वीका (एक प्रकार की अंगूरी सुरा) गजमद एवं आसवों के समान गन्ध वाली हों तथा शालि-धान्य के पीसने से जो गन्ध निकलती है, उस गन्ध के समान अथवा धान के सुगन्धों से सुगन्धित हों, ऐसी भूमियों पर ब्राह्मण आदि अखिल वर्णों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वेश्य एवं शूद्र इन चारों वर्णों के निवास के लिए ग्राम आदि बनाना श्रेयस्कर होता है।[2]

**वर्णानुरूप प्रशस्त भूमि-** ब्राह्मणादि वर्णों के लिए भूमियों के पृथक्-पृथक् वर्णों अर्थात् रंगों के अनुसार भूमियों के चयन के विषय में भी बताया गया है कि सफेद, लाल, पीली एवं काली पृथ्वी या भूमि क्रमशः ब्राह्मण के लिए सफेद, क्षत्रिय के लिए लाल, वेश्य के लिए पीली एवं शूद्र के लिए काली पृथ्वी प्रशस्त होती है अथवा सभी प्रकार की भूमियाँ सभी वर्णों के लिए हितकारक होती हैं ऐसा भी निर्देश दिया गया है।[3]

**स्वादानुरूप प्रशस्त भूमि-** ब्राह्मणादि वर्णों हेतु स्वादानुरूप भी प्रशस्त भूमियों का निर्देश किया गया है कि मीठी, कसैली, तीखी, कड़वी, क्रमशः ब्राह्मणादि वर्णों के लिए प्रशस्त मानी गई है अर्थात् ब्राह्मणों के लिए मीठी यानि मधुर भूमि, क्षत्रियों के लिए कसैली यानि कषाया भूमि, वेश्य के लिए तीखी अथवा तितिक्ता भूमि एवं शूद्रों के लिए कटु का यानि कड़वी भूमि क्रमशः प्रशस्त मानी गई है। आगे यह भी कहा गया है कि या फिर मीठी ही सभी वर्णों के लिए प्रशस्त है अर्थात् बाकी तीनों प्रकार की भूमि को छोड़कर मात्र मीठी भूमि भी सभी वर्णों के लिए प्रशस्त मानी गई है।[4]

**स्पर्शानुकूल प्रशस्त भूमि-** ऐसी भूमि के विषय में कहा गया है कि जो पृथ्वी गर्मी के आने पर ठण्डी मालूम पड़े, सर्दी के आने पर गर्म मालूम पड़े तथा वर्षा में गर्म और ठण्डी दोनों ही मालूम पड़े वही भूमि आचार्यों द्वारा ब्राह्मणादि वर्गों के निवास हेतु प्रशस्त भूमि कही गई है अर्थात् गर्मियों में शीतलता प्रदान करने वाली सर्दियों में उष्णता प्रदान करने वाली और वर्षा ऋतु में शीतलता और उष्णता दोनों ही प्रदान करने वाली भूमि को ग्रन्थकार ने मानव के रहने योग्य बताया है।

1. कुङ्कुमागुरुकर्पूरस्पृक्कैलाचन्दनादिभिः।
   सुगन्धा मिश्रितैरेभिः पृथक्स्थैर्वा वसुन्धरा।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-44
2. कल्हारपाटलाम्भोजमालतीचम्पकोत्पलैः। स्थलाम्बुप्रभवैश्चान्यैः सुगन्धा कुसुमैस्तथा।।
   गोमूत्रगोमयक्षीरदधिमध्वाज्यगन्धभाक्। समानगन्धा मदिरामाध्वीकेभमदासवैः।।
   शलिपिष्टकगन्धैश्च धान्यगन्धैश्च या तथा।
   प्रशस्ताखिलवर्णानामीद्दगन्धा वसुन्धरा।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-45 से 47
3. सिता रक्ता च पीता च कृष्णा चैव क्रमान्मही।
   विप्रादीनां हि वर्णानां सर्वेषामथवा हिता।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-48
4. स्वादुः कषाया तिक्ता च कटुका चेत्यनुक्रमात्।
   वर्णानां स्वादतः शस्ता सवैषां मधुराथवा।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-49

**शब्दानुरूप प्रशस्त भूमि**- आलोच्य ग्रन्थ में शब्दानुरूप प्रशस्तभूमि वह कही गई है जो भूमि मृदंग, वल्लकी (वीणा, सितार), वेणु, दुन्दुभि की ध्वनि के समान ध्वनि देती है और जिनकी हाथी, घोड़े, समुद्र की ध्वनि के समान ध्वनि होती है अर्थात् जिन भूमियों को मानवों के निवास हेतु चुना जाता है उन भूमियों का शब्द उपरोक्त वाद्य यन्त्रों की ध्वनि के समान होना चाहिए एवं उन भूमियों की ध्वनि का हाथी, घोड़े, समुद्र आदि की ध्वनि जैसा होना भी अनिवार्य है।[1]

**निर्माण हेतु त्याज्य भूमि** – आलोच्य ग्रन्थ में जनपदों, खेटों, ग्रामों एवं नगरों के लिए प्रशस्त भूमियों के वर्णन के उपरान्त इनके लिए त्याज्य या अप्रशस्त भूमियों का वर्णन भी इसी अष्टम अध्याय में इस प्रकार किया गया है कि "जो भूमि भस्म, अंगार, कपाल एवं हड्डियों, तुष, बाल विष, पत्थर, चूहों के बिल, बांबियों एवं पत्थरों आदि से भरी हुई हों, वे त्याज्य हैं। रुक्ष (सूखी), नीची उपजाऊ, नीची फटी-फटी, ऊसर उल्टी जल बहाने वाली, कम वर्षा वाली, ऊँची-नीची, कड़वे कांटे-दार, निस्सार, सूखे, बिना फल वाले पेड़ों से युक्त तथा हिंसक पक्षियों से आकीर्ण (व्याप्त), कीड़े-मकोड़े वाली ऐसी भूमियाँ गर्हित बताई गई हैं। ऐसी भूमियों पर सुकृत (पुण्य), भोज्यान्न, भक्ष्यान्न, पेयादि उसी क्षण तूर्य आदि बाजों की आवाज़ के साथ नष्ट हो जाती हैं।[2]

जिस भूमि पर सरिताएँ पूर्व की ओर बहती हों, उस भूमि को भी पुर आदि के लिए त्याग देना चाहिए, क्योंकि वहाँ पर अक्सर वे समय पाकर फिर लौट आती हैं। पक्षियों की चर्बी, खून, मज्जा, पुरीष, मूत्र, मल, कोष के समान गन्ध वाली और तेल एवं शव के समान गन्ध वाली पृथ्वी को त्याग देना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो पृथ्वी सदैव धूम्र-वर्ण अथवा मिश्र-वर्ण या विवर्ण अथवा रुक्ष-वर्ण हो वह भी ठीक नहीं है और न वह कल्याण देने वाली होती है। जो पृथ्वी कड़वी, कसैली अथवा नमकीन अथवा स्वेदन (पसीने वाली) होती है, उसको लोक-कल्याण को नष्ट करने वाली समझ कर पुरादि-सन्निवेश में त्याग देना चाहिए। जो पृथ्वी सदेव रुखे, तीखे, स्पर्श वाली और सदैव गर्म अथवा ठंडी हो इस प्रकार की अकल्याण, स्पर्श से रहित पृथ्वी को त्याग देना चाहिए। सियार, ऊँट, कुत्ता एवं गदहा की आवाज़ के सदृश आवाज़ वाली और जो निर्झर के स्वर के समान ध्वनि वाली अथवा जो स्वयं टूटे बर्तन के समान ध्वनि वाली हो, वह पृथ्वी भी कल्याण-कारिणी नहीं कही गई है।[1] इस प्रकार से आलोच्य ग्रन्थ में महाराजा भोज ने गन्ध आदि के ज्ञान से भूमि के शुभ तथा अशुभ होने का वर्णन विस्तार से किया है।

**भूमि के शुभाशुभ होने की परीक्षा**- शुभाशुभ भूमि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हल से जोतने पर यदि लकड़ी निकले, तो अग्नि से उत्पन्न भय समझना चाहिए। यदि ईंट निकले तो धनागम समझना चाहिए। यदि कंकड़ निकले, तो कल्याण। हड्डियां निकलें तो कुल का नाश, सर्प

---

1. धर्मागमे से हिमस्पर्शा या स्यादुष्णा हिमागमे। प्रावृष्युष्णहिमस्पर्शा सा प्रशस्त वसुन्धरा।।
मृदङ्गवल्लकीवेणुदुन्दुभीनां समा ध्वनौ। द्विपाश्चाब्धिसमस्वाना चेति स्युर्भूमयः शुभाः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-50 से 51

2. इदानीमप्रशस्तानां भुवां लक्ष्माभिदध्महे। पुरादिसन्निवेशार्थ परित्याज्या भवन्ति याः।।
भस्माङ्गारकपालास्थितुषकेशविषाश्मभिः। मूषकोत्करवल्मीकरार्करभिश्च निर्भरा।।
रुक्षा प्ररोहिणी निम्ना भङ्गरा सुषिरोषरा। वामावर्तजलास्राविण्यसारा विषमोन्नता।।
कटुकण्टकिनिःसारशुष्कनिष्फलपादपा। क्रव्यात्पक्षिसमाकीर्णा कृमिकीटवती च या।।
सुकृतान्यपि भोज्यान्नभक्ष्यपानानि तत्क्षणात्। यस्या विनाशमायान्ति सह तूर्यादिनिखनैः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-52 से 56

निकले तो चौरभय समझना चाहिए। इस प्रकार प्रकार से जो भूमि अनूषट हो अर्थात् उपजाऊ हो, बहुतृणा हो और जो स्निग्ध हो तथा जिसका झुकाव उत्तर-पूर्व अथवा चारों ओर हो, जिसका उदर दर्पण के समान हो, वह भूमि प्रशस्त मानी गई है।[1]

**मिट्टी की परीक्षा** – भूमि के शुभ अथवा अशुभ होने का वर्णन करने के उपरान्त उस भूमि की मिट्टी की परीक्षा करने को निर्देश दिया है कि भूमि चयन के अनेक प्रकार बताने के उपरान्त भूमि परीक्षा के प्रकारों का निर्देश किया जाता है।

**प्रथम प्रक्रिया** – उपवास रखकर, स्नान कर, पवित्र होकर, सफेद माला एवं वस्त्र पहनकर ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करवा कर और वास्तु-देवों की पूजा कराकर उस भूमि के मध्य भाग में एक हाथ के प्रमाण में गड्ढा खोदना चाहिए और फिर इस मिट्टी को निकाल कर इसी मिट्टी से उसी गड्ढे को भर देना चाहिए यदि वह मिट्टी गड्ढे के भरने से अधिक रह जाये तो भूमि को उत्तम समझना चाहिए और यदि बराबर हो तो मध्यम समझना चाहिए और गड्ढे से कम हो तो वह अधम-भूमि कहलाती है और मनुष्यों के लिए प्रशस्त नहीं कही गई है।[2]

**द्वितीय प्रक्रिया** – मिट्टी परीक्षा की दूसरी प्रक्रिया के विषय में ग्रन्थकार का कथन है कि गड्ढे को खोदने पर उस मिट्टी के अन्दर यदि मणि, शंख, प्रवाल आदि दिखलाई पड़ें, तो उस पृथ्वी को अत्यन्त प्रशस्त समझना चाहिए। वह भी पृथ्वी प्रशस्त कही जाती है जिसके खोदने पर मिट्टी में अणुमात्र भी भूसी, बाल, कंकड़, अंगार, भस्म हड्डियां नहीं दिखलाई पड़तीं।

**तृतीय प्रक्रिया** – मिट्टी परीक्षा की तीसरी प्रक्रिया के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि, खुदे हुए गड्ढे को पानी से भर कर सौ पग चलना चाहिए और लौट आने पर यदि उसमें उतना ही पानी रहे तो उस ज़मीन को सार्वकामिकी अर्थात् सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली कहना चाहिए। यदि पानी कम हो जाए तो उसे मध्यम श्रेणी की भूमि कहते हैं और भी उससे कम हो जाए तो अधम होती है।

**चतुर्थ प्रक्रिया** – गड्ढे में ब्राह्मणादि वर्णानुरूप क्रमशः सफेद, लाल, पीली, काली मालायें यदि रखी जाएं और जिस वर्ण की माला न मुरझाए उस वर्ण के लिए वह मिट्टी प्रशस्त मानी जाए आलोच्य ग्रन्थ में मिट्टी परीक्षा की यह चौथी क्रिया बतलाई गई है।[3]

---

1. सरित् पूर्ववहा यस्यां पुरार्थ तामपि त्यजेत्। बहुनि यतस्तत्र कालेनायाति सा पुनः।।
बसासृङाज्जविण्मूत्रमलको (थ?श) पतत्रिणाम्। समगन्धां त्यजेदुर्वी तैलस्य च शवस्य च।।
सदैव धूम्रवर्णा या मिश्रवर्णाथवा मही। विवर्णा रुक्षवर्णा वा सा न स्यादिष्टदायिनी।।
तिक्ताम्ललवणा चापि भूमिर्या स्वादतो भवेत्। तां लोकविद्वेषकरीं त्यजेत् पुरनिवेशने।।
या रुक्षसरसंस्पर्शा सदैववोष्णा हिमाथवा। अनिष्टसुखसंस्पर्शा या स्यात् तामपि सन्त्यजेत।।
क्रोष्टूष्ट्रश्वखरस्वाना या च निर्झरनिस्वना। भिन्नभाण्डसमकूरध्वनितापि च नेष्यते।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-57 से 62
2. इति गन्धादिभिर्भूमिः कथितेयं शुभाशुभा। हलेन कृष्यमाणायां भूमौ काष्ठे समुद्धृते।।
विद्याद् भयं वहिभवमिष्टकायां धनागमम्। पाषाणेषु तु कल्याणं कुलप्रध्वंसमस्थिषु।।
सरीसृषेषु सर्वेषु स्तेनेभ्यो भयमादिशेत् अनुषरा बहुतृणा शस्ता स्निग्धोत्तरपल्वा।
प्रागीशानपल्वा सर्वपल्वा वा दर्पणोदरा।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-63 से 65
3. स्वस्ति विप्रान् वाचयित्वा वास्तुदेवान् समर्च्य च। करप्रणामं कुर्वीत खातं तद्भूमिमध्यगम्।।
ततस्तन्मृदमाकृष्य तत तयैवानुपूरयेत्। खाताधिकमृदुक्ता भूः श्रेष्ठा मध्या च तत्समा।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-67 से 68

**पञ्चम प्रक्रिया** – गड्ढे की उत्तरादि दिशाओं में दीपों को जलाकर रखना चाहिए। जिस दिशा का दीपक चिर समय तक जलता रहे ग्रन्थकार ने उस दिशा के वर्ण के लिए वह भूमि सुखप्रद गई है।[1]

भूमि चयन एवं भूमि परीक्षा सम्बन्धित विस्तृत से वर्णन उपलब्ध होता है। वहाँ भूमि की जितनी विधियाँ गृह एवं पुर निर्माण के लिए कही गई हैं वही विधियाँ देवप्रासाद निर्माण हेतु भी प्रयुक्त करने को कहा गया है। देवप्रासाद निवेश्य भूमि के चयन परीक्षण तथा शोधन आदि के सम्बन्ध में समराङ्गण सूत्रधार के आठवें अध्याय में जो विवरण दिया गया है उसका "पुर-निवेश" तथा "भवन-निवेश" के अध्ययन में भौतिक दृष्टि से विवेचन किया जाता है, परन्तु प्रासाद वास्तु की सम्यक समीक्षा में एकमात्र भौतिक दृष्टि का विवेचन वास्तविक दृष्टि से अपूर्ण ही रहेगा। देवप्रासाद एक भवन विशेष ही नहीं है यह प्रतीक भी है। यह स्वर्ग एवं मर्त्य की मिलन-भूमि है, उन दोनों का गठबन्धन है। अतः मानव के रहने के लिए पुरों, ग्रामों, खेटकों, पत्तनों, पुष्टभेदनों एवं तन्त्रोचित भवनों की निवेश्य भूमि के चयन एवं परीक्षा आदि के विषय में एकमात्र भौतिक के ही साधनों को समीक्षा का विषय बनाया गया था।[2]

परन्तु यहाँ पर हमें मन्दिर की भूमि पर देवप्रतिष्ठा करनी है — देवावास बनाना है — निराकार की साकार प्रतिमा के दिव्य दर्शन करने हैं- समस्त विश्व को एक छोटे से चतुरस्र मण्डल पर लाकर प्रतिष्ठापित करना है। क्या यह मनुष्य के बस की बात है? अतः देवसाहाय्य के बिना इस देवावासोचित भूमि का चयन निष्पन्न नहीं हो सकता। महाराजा भोज द्वारा कथित पृथु तथा पृथ्वी के आख्यान का वर्णन आलोच्य ग्रन्थ के प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में हुआ है। पृथु के इस गोदोहन से ऊबड़-खाबड़, पथरीली कंकरीली ज़मीन को पुर ग्राम निवेशों से उचित बनाया गया। परन्तु ऋग्वेद में भगवान् यम ने राजा पृथु का यह काम किया।[3] ऋग्वेद में यम का गुणगान करते हुए कहा गया है कि उन्होंने विश्व की सभी चंचल वस्तुओं को स्थिरता प्रदान की। ब्रह्मा ने केवल मानसी सृष्टि की परन्तु इस ऊबड़-खाबड़ ज़मीन को महाराज पृथु ने समीकृत कर भूतल पर आवास-योग्य, पुर, ग्राम, भवन, पत्तन, देवप्रासाद आदि का निर्माण विश्वकर्मा ने करवाया।[4]

डॉ. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ला इस विषय पर विस्तृत चर्चा की है कि जंगम पृथ्वी यम की आज्ञा से स्थिर होकर प्रासाद प्रतिष्ठा के योग्य बनी। पृथ्वी की इस प्रासाद वास्तु की प्रतिष्ठा की कहानी में तीन रूप छिपे हुए हैं। जो पृथ्वी लम्बी और चौड़ी थी वह भू अर्थात् पदार्थ के रूप में परिणत होकर प्रासादोपनिवेश्या बनी, पुनः वही भूमि देवप्रासाद का आधार तथा आधेय भी बनी। प्रत्येक प्रासाद अथवा मन्दिर के निर्माण के पूर्व बिना किसी भौतिक आधार के, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक आधार के द्वारा वास्तु-पुरुष-मण्डल की रचना परमावश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। सनातन से मन्दिर

---

1. मणिशङ्खप्रवालादि तदातिश्रेयसी क्षितिः। सापि प्रशस्यते भूमिर्यस्यां स्दुः खातपांसवः।।
तृषकेशोपलाङ्गार भस्मास्थिलवर्जिताः। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-70 से 71
2. तावच्चेदागमेऽम्भः स्यात् तदा भूः सार्वकामिकी।
मध्यमात्रप्रहीणे स्यात् ततो हीनतरेऽधमा।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-72
3. खाते सितादिमाल्यानि यस्यां निश्युषितानि च।
यद्वर्णानि न शुष्यन्ति सा तद्वर्णैष्टदा यही।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-73
4. खातस्योदक्प्रभृतिषु दिक्षु प्रज्वालयीत वा। दीपान् यस्यां चिरं तिष्ठेत् तद्वर्णेष्टप्रदा हि सा।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-8, श्लोक-74

निर्माण की ऐसी व्यवस्था चली आई है। वास्तु-पुरुष-मण्डल मन्दिर का रेखाचित्र भी है तथा उसके आध्यात्मिक चित्र की ओर भी पूर्ण संकेत करता है।

भूमि चयन के इन दो आध्यात्मिक अथवा अपार्थिव तत्वों के अतिरिक्त दूसरा तत्व है "अंकुरार्पण परम्परा"। देवप्रासाद निर्माण एवं उसकी प्रतिष्ठा के आरम्भ में विभिन्न उपादानों में अंकुरार्पण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। अंकुरार्पण कृत्य केवल प्रारम्भ में ही नहीं, बल्कि देवप्रासाद की समाप्ति पर भी आवश्यक है। देवप्रासाद में प्रतिमा प्रतिष्ठा के समय उसके नेत्रोन्मीलन के भी समय अथवा कलश स्थापना आदि के समय भी वह विहित है। इन संस्कारों में किसी भी संस्कार के नौवें, सातवें, पांचवें अथवा तीसरे दिन पूर्व विभिन्न प्रकार के बीज चावल, दाल, सरसों आदि एक ताम्रपात्र में रखकर ओषधीश चन्द्रदेव के सम्मुख रखे जाते हैं। इस बीजारोपण-संस्कार में जो 16, 12, 8, 4, अर्थात् यदि मन्दिर निर्माता, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र है तो उन्हीं के अनुसार कलश स्थापित किए जाते हैं। उनकी आकृति भी चन्द्राकृति होती है।

जब बीज अंकुरित हो जाते हैं तो कुछ पनपने पर उनको गोओं, गोवत्सों, वृषभों को चराया जाता है, फिर कर्षण उपरान्त भूमि को सन्तुलित कर, स्वच्छ एवं सुपुष्ट होकर वह भूमि देवप्रासाद प्रतिष्ठा के योग्य बनती है। इस प्रकार देवप्रासाद निर्माण अथवा उसकी प्रतिष्ठा के पूर्व अंकुरार्पण की परम्परा एक प्रकार की प्रतीक कल्पना है, क्योंकि जिस देवप्रासाद कलेवर का गर्भ अर्थात् गर्भगृह (देवप्रासाद का गर्भ तथा पृथ्वी के गर्भ के प्रतीक सादृश्य में ही बीज-ब्रह्म की प्रतिष्ठा पनपी है — यही इसका आध्यात्मिक तत्व है) से विकास होता है वह पृथ्वी के तत्व को अपने में आत्मसात् करता है, उसकी आकृति भू-शक्ति से प्रादुर्भूत होती है और उसका ढाँचा भी उसी का आनुर्षगिक रूप है।[1]

**वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति** – वास्तु का ज्ञान कराने वाले ग्रन्थ को वास्तु कहते हैं। वास्तु शब्द वस्तु से बना है। वस्तु का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है। "जो है" या "जिसकी सत्ता है", वह वस्तु है। वस्तु का शास्त्र ही वास्तुशास्त्र है। वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति "संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तु" नामक शब्दकोश के अनुसार वसन्ति प्राणिनो यत्र, (वस + तुन्, णित) वह स्थान जिस पर कोई इमारत खड़ी हो। घर बनाने लायक जगह/घर/मकान की नींव या उस समय का धार्मिक अनुष्ठान विशेष, जिस समय किसी मकान की नींव रखी जाए।[2] "हलायुध कोष" के अनुसार वास्तु का तात्पर्य — "वास्तु संक्षेपतो वक्ष्ये गृहा दो विघ्ननाशनम्। ईशान कोणादारभ्य घ्योकाशीतिपदे त्यजेत"। अर्थात् वास्तु संक्षेप में ईशान्यादि कोण से प्रारम्भ होकर गृहनिर्माण की वह कला है जो गृह को विघ्न प्राकृतिक उत्पातों-उपद्रव्यों से बचाती है। वास्तु वास्तुशास्त्र या स्थापत्य शास्त्र भवन निर्माण कला का प्रतिपादन है।

**वास्तुशास्त्र का क्षेत्र** – वास्तु शब्द ग्रामों, पुरों, भवनों एवं निवेश्य, भूमि का वाचक है। वास्तु कला की सहचारी मूर्तिकला व पाषाण कला है। गृहभवन, उच्चप्रसाद, दुर्ग, गांव, नगर, मन्दिर, देवालय, कूप, तालाब, वापी, मूर्ति निर्माण, स्थापत्य कला, विभिन्न प्रकार के मण्डपों, यज्ञशाला, सभागृह, शिविक, रथ, विभिन्न प्रकार के यान व वाहन उद्यान, पर्यक, मंच इत्यादि का निर्माण करना, प्रतिष्ठा करना, उनका संशोधक करना अथवा जीर्णोद्वार करना वास्तु शास्त्र के क्षेत्र हैं। इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वास्तुशास्त्र का ज्योतिष से निकट का सम्बन्ध है वास्तु निर्माण में शुभाशुभ व मुहूर्त ज्ञान के लिए ज्योतिष का सहारा लेना पड़ता है। इसका भूगोल एवं भूगर्भ विधा तथा गणित से

1. भारतीय स्थापत्य, अध्याय-प्रासाद निवेश, पृष्ठ-302-303
2. संस्कृर्त-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृष्ठ-1008

भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

वास्तुशास्त्र के विषय क्षेत्र में इसका परिज्ञान आवश्यक है। दिग्दशाज्ञान, दिग्साधन, भू:लक्षण, भूमि शोधन एवं परीक्षा आदि विचार गृहपिंड साधन, गृहारभ्य मुहूर्त, कूर्म चक्र, गृहद्वार निर्णय, द्वारवेध, गृह प्रवेश, गौशाला विचार, अश्वगृहनिर्माण, शय्या प्रमाण तोरण, मंजूषा प्रतिमा निर्माण देवालयादि।

वास्तुशास्त्र का सृजन क्यों हुआ? प्राचीन ऋषि-मुनियों ने सृष्टि, मनुष्य और आवास पर पड़ने वाली अत्यन्त ब्रह्माण्डीय शक्तियों से मनुष्य को सर्वाधिक लाभ पहुँचाने के लिए वास्तुशास्त्र का सृजन किया। जिसे हम भवन निर्माण कला भी कहते हैं। वास्तुशास्त्र का अनुकरण करने से स्वास्थ्य, मानसिक शान्ति, सफलता और सुख समृद्धि पा सकते हैं। जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकते हैं। जो इसके विपरीत कार्य करते हैं या उसकी उपेक्षा करते हैं वह दु:खी और तनावग्रस्त रहते हैं तथा अनेकों समस्याओं से जूझते हैं।

वास्तु एक ऐसा विज्ञान है जो व्यक्ति को समृद्धि और मानसिक शांति की तरफ ले जाता है। यही कारण है कि राजा भोज के समय से लेकर आज के आधुनिक और अंतरिक्ष युग में भी इसकी प्रासंगिकता ज्यों की त्यों है।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जगत् के एकमात्र आधार 'ब्रह्मा' श्री सर्वेश्वर प्रभु के सर्जन-संवर्धन-संवरण के क्रम में न केवल प्राणी ही अपितु समस्त स्थावर-जंगम तत्वों में अनवरत गतिशीलता और परिवर्तन आदि प्रक्रिया भेद से दिखाई देते ही हैं। हम इस चराचर जगत् में असंख्य जीवों की उत्पत्ति, उनकी स्थिति और विलय को प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं किन्तु स्थावरों में निरन्तर गतिशीलता, जड़ पदार्थों में सतत् शीलता होने के कारण ब्रह्माण्ड का काल-क्रम, उसका गतिक्रम, उसकी प्रकृतिरूपता तथा विकृतिरूपता दृष्टिगोचर होती है।

प्रकृति के अनुरूप निर्मित-स्थापत्य कला के मनोहर तथा कलात्मक देवालय, राजमहल, किले, जलाशय और मनुष्यालय आदि संरचनाओं को देखकर मन अत्यन्त प्रफुल्लित होता है, इस प्रकार की मनोहारी संरचना का नाम ही "वास्तु" है। देव, दानव, यक्ष, किन्नर और मानवादि जहाँ-जहाँ निवास करते हैं अथवा जिन-जिन का उपभोग करते हैं वे सब वस्तुएँ वास्तु के रूप में जानी जाती हैं, जिनका विभाजन मुख्य रूप से चार भागों में किया जाता है। पहला भूमि, दूसरा प्रासाद, तीसरा यान और चौथा शयनासन। इनमें भूमि ही मुख्य वस्तु के रूप में ग्रहण की जाती है इस भूमि पर जो भी उत्पन्न होता है अथवा रूप को धारण कर लेता है वह सब वास्तु के रूप में ही जाना जाता है। भवन, भूखण्ड, प्रासाद, कूप, बावड़ी, तालाब आदि पदार्थ वास्तु के ही हैं।[1]

वास्तु की उत्पत्ति के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि सत्ययुग के आरम्भ में एक महान् प्राणी उत्पन्न हुआ, जो अपने विशाल शरीर से समस्त भुवनों में व्याप्त था, उसको देखकर देवराज इन्द्र सहित सभी देवता भय एवं आश्चर्य चकित थे तथा क्रुद्ध होकर उन्होंने उस असुर को पकड़कर उसका सिर नीचे करके भूमि में गाढ़ दिया और स्वयं खड़े रहे और ब्रह्मा ने उस राक्षस का नाम "वास्तुपुरुष" रखा।[1]

परन्तु बृहस्पति के अनुसार प्राचीन काल में अपने शरीर से पृथ्वी और आकाश को ढाँकने वाला कोई अपरिचित व्यक्ति उत्पन्न हुआ। उसको देवताओं ने पकड़कर नीचे मुख करके पृथ्वी पर स्थापित कर दिया। उस समय जो देवता जिस अंग को पकड़े हुए थे उन्होंने उस अङ्ग में अपना स्थान

1. हलायुधकोष, द्रष्टव्य

बना लिया, उस देवमय अपरिचित व्यक्ति को ब्रह्मा ने "वास्तु पुरुष" का नाम से कल्पित किया। एक कथा के अनुसार भगवान 'शंकर' ने जब 'अंधक' नामक राक्षस का वध किया था, तो उस युद्ध के समय उनके मस्तक से जो स्वेद बिन्दु गिरे थे, उस से एक भयंकर प्राणी ने जन्म लिया तथा उसका स्वरूप इतना विकराल था कि देवताओं को ऐसा लगने लगा कि सारी वसुंधरा को निगल जायेगा तथा उस भयंकर प्राणी ने अंधक के वध के समय जो रक्त पृथ्वी पर गिरा था उसको देखते ही देखते पान कर लिया तब भी वह तृप्त नहीं हुआ और वह भगवान् शंकर की तपस्या करने में लग गया और भगवान् शंकर ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा, उसने विनम्र होकर अपनी भूख मिटाने के लिये तीन लोकों के अन्तर्गत जो भी सामग्री है उसे भक्षण करने का वर माँगा तथा शिव भगवान् ने उसे वर दे दिया जिसके अन्तर्गत वह आकाश से अपने विशाल शरीर के साथ पृथ्वी पर आ गिरा जिससे देवता लोग भयभीत हो गये तथा उसने सभी को आक्रान्त कर दिया।

वह देवताओं के निवास को अविरुद्ध करने तथा सभी देवताओं ने मिलकर उसे पृथ्वी पर दबा दिया और उसे निश्चल बना दिया। इस प्रकार उस भयंकर प्राणी ने देवताओं से निवेदन किया कि "हे देवगण आप लोगों ने मुझे दबाकर निश्चल बना दिया है, पर इस अवस्था में किस प्रकार रहूँगा" उसके इस निवेदन पर ब्रह्मा आदि देवताओं ने कहा कि "वास्तु के समय जो पूजा-अर्चना होगी तथा वास्तु-शान्ति के समय जो यज्ञ होगा वह तुम्हें आहार के रूप में प्राप्त होगा। वास्तु पूजा ना करने वाले तुम्हारे आहार होंगे। इसी व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तु पूजा का विधान बनाया गया जिससे घर में रहने वाले सभी लोग सुखमय जीवन बिता सके।[1]

**वास्तु पुरुष मण्डल** – प्रत्येक निवेश्योचित भूमि की संज्ञा, चाहे पुर के लिए हो या नगर के लिए, साधारण जनोचित आवास भवनों के लिए हो या देव मन्दिरों के लिए वास्तु शास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तु पद के नाम से दी गई है। वास्तु की प्रमुख एवं सर्वश्रेष्ठ आकृति हे चतुरस्राकार और इसकी संज्ञा है, वास्तु-पुरुष-मण्डल। इसके तीनों शब्द-वास्तु, पुरुष तथा मण्डल अपने-अपने क्षेत्र में बड़े ही मार्मिक हैं। 'वास्तु' का तात्पर्य सत्ता की व्यापकता से है, जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी निवेश्य देवप्रासादोचित भूमि के एकत्व की परिचायिका है। 'पुरुष' का तात्पर्य विश्वमूर्ति-ब्रह्मा की प्रतिमा से है जो वास्तुपद के साथ एकीकृत एवं सन्तानित परिणाम से है। 'मण्डल' से तात्पर्य कोई भी बद्ध-रेखा योजना है।[2]

चोकोर आकार विश्व एवं विश्व के निवासियों की पूर्णता का प्रतीक है। मानव जीवन के पुरुषार्थचतुष्टय की सम्पन्नता का भी संकेत है। प्रकृत में देवप्रासाद की प्रतिष्ठा 'भू' पर अभिप्रेत है। 'भू' गोल है, वर्तुल रूप में वह घूमती है। परन्तु जब उसे स्थिर, दृढ़ बनाना है तो उसे चतुरस्राकार में परिणत करना होगा। वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन स्वरूप देवप्रासाद के स्वरूपत्रय के आनुषंगिक हैं। तात्विक दृष्टि से, दर्शन की दृष्टि से, देवप्रासाद परा शक्ति का प्रतीक है — यह उसका प्रथम स्वरूप है। उसके निवेश्य योजना-प्रतीक गर्भगृहादि से उसका सूक्ष्म स्वरूप प्रकट है तथा विवरणात्मक एवं

1. प्रासादमण्डन, लेखक, पृष्ठ-7
2. पराकृतयुगे ह्याशीन्महद्भूतं समुत्थितम्। व्याप्यमानं शरीरेण सकलं भुवनं ततः।।
तद्दृष्ट्वा विस्मयं देवा गताः सेन्द्रा भयावृताः। ततस्तैः क्रोधसन्तप्तै गृहीत्वा तमथासुरम्।।
विनीतस्तनधोवक्त्रं स्थितास्तत्रैव तेसुराः। तमेव वास्तुपुरुषं ब्रह्मा समभिकल्पयेत्।। प्रासादमण्डन, पृष्ठ-6
3. प्रासादमण्डन, पृष्ठ-5-6

वर्णनात्मक दृष्टि से उसका स्थूल शरीर अर्थात् भौतिक स्वरूप भी प्रत्यक्ष दृश्यमान है।[3]

देवप्रासाद में चोकोर वेदी ही पावन स्थल है। वृत्ताकार पृथिवी केवल प्रत्यक्ष दृश्यमान एवं गतिमान रूप में विद्यमान है, पुरुष विश्वप्रतीक है एवं उस पुरुष की कल्पना के लिए ही वास्तु-पुरुष-मण्डल की रचना की गई है। यह रचना ही आगे इष्टका एवं पाषाणमय देवप्रासाद रचना का आधार बनती है। यही स्थूल रूप स्थूलाकृति देवप्रासाद का आधार है। यही कारण है कि वास्तु विद्या एवं वास्तु-कला में वास्तु-पुरुष की कल्पना को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आलोच्य ग्रन्थ के नौवें अध्याय में अष्टांग स्थापत्य के अन्तर्गत प्रथम अंग से वास्तु-पुरुष-कल्पना का वर्णन हुआ है। वास्तु-पुरुष पर प्रतिष्ठित प्रासाद, देवप्रासाद-पुरुष में परिणत हो जाता है। उसे वैदिक भाषा में हिरण्यपुरुष कहा गया है। वास्तु-पुरुष-मण्डलीकरण की परम्परा न केवल पुरातन है, अपितु वर्तमान काल में भी क्या देवप्रासाद, क्या वास-भवन सभी के निर्माण के पूर्व यह मण्डलीकरण हिन्दू दृष्टि से अनिवार्य है। वास्तु-पुरुष-मण्डल निवेशोचित मन्दिर निर्माण कार्य का प्रथम अङ्ग है इस कला में भी दक्षता प्राप्त करना स्थपति की प्रथम योग्यता है।

आलोच्य ग्रन्थ के बारहवें अध्याय में षोडशास्पद लघु वास्तु का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह सोलह पदों का होता है। वहाँ के देवता इस प्रकार से हैं। मध्य में स्थित होकर मुख्य देवता सुरोत्तम चतुरानन ब्रह्मा चार-चार (4 छ 4 = 16) विभक्त पद-वास्तु में एक पद का उपभोग करते हैं। अर्यमा, विवस्वान्, मित्र और शेषनाग, ये चारों सुरोतम पद के आधे भाग के भोक्ता कहे गये हैं। जो सवितृ आदि आपवत्सान्त सूर्य के समान कान्ति वाले आठ देवता ब्रह्मा के कोणों में हैं। वे आधे-आधे पद से चार भागों के भोक्ता कह गये हैं। क्रम से ईशानादि चारों कोनों में जो आठों देवता स्थित हैं, वे विद्वानों के द्वारा आठ भागों के भोक्ता कहे गये हैं अर्थात् एक-एक देवता एक-एक पद वाले हैं।[1]

इसी प्रकार से पर्जन्य आदि अदिति पर्यन्त जो आठ और देवता हैं वे विद्वानों के द्वारा चार भागों के भोक्ता कहे गये हैं अर्थात् प्रत्येक देवता आधे-आधे भाग का भोक्ता है। जयन्त आदि चरकी पर्यन्त जो बाहर रहने वाले सोलह देवता हैं उनका भोग अर्ध-अर्ध पद का कहा गया है। इसी प्रकारं सहस्त्र-पद-वास्तु, वृत्त वास्तु, चतुष्षष्टि-वृत्त-वास्तु, शतपद-वृत्त-वास्तु, त्र्यश्रादि-वास्तु-पद आदि का वर्णन समराङ्गणकार ने विस्तार से किया है।[2]

**सहस्त्र-पद-वास्तु** – महाराजा भोज ने आलोच्य ग्रन्थ में कहा है कि क्षेत्र के चोकोर बना देने पर तथा उसके तैंतीस भाग करने पर चरकी (रक्ष्योनिभवा देवानुचरियां) आदि के लिए अन्त की ढाई पंक्तियां छोड़ देनी चाहिएँ। बीच में उसके बाद अर्धपदिका वीथिका छोड़ देनी चाहिये। फिर उसके बाद सत्ताईस-सत्ताईस भागों से वास्तु का विभाजन करना चाहिये। उन्नतीस पद से युक्त पदों का शतसप्तक अर्थात् सात सौ उन्नतीस यदि वहाँ होता है तो गर्भ में इक्यासी पद का स्थान ब्रह्मा के लिए होता है। चाप प्रभृति आठ जो अलग-अलग देवता हैं। वे अट्ठारह पद वाले, अर्यमा आदि चारों चौवन पद वाले होते हैं। अदिति-पर्यन्त

---

1. भारतीय स्थापत्य, अध्याय-प्रासाद निवेश, पृष्ठ-307-308
2. भङ्क्ते मध्ये स्थितो मुख्यः पदमेकं सुरोत्तमः। क्लृप्तं पदचतुर्भागैश्चतुर्भिश्चतुराननः।।
पदार्धभागभोक्तारश्चत्वारोऽमी सुरोत्तमः। अर्यमा च विवस्वांश्च मित्रश्च क्ष्माधरोऽपि च।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12, श्लोक-2 से 3

ईशादि जो बाहर के देवता हैं, उनके ग्यारह पद के भोग होते हैं। देशों के सन्निवेश में यह सहस्त्र-पद-वास्तु विहित है।

**वृत्त-वास्तु** - आलोच्य ग्रन्थ में वृत्त-देवप्रासादों के लिए वृत्त-वास्तु कहा जाता है। प्रथम चौंसठ पद भाग वाला और दूसरा सौ पद वाला होता है।[1]

**चतुष्षष्टि-वृत्त-वास्तु** - महाराजा भोज के अनुसार वृत्तविष्कम्भ को आठ-आठ (8 छ 8 = 64) भागों में विभक्त करने पर चार भागों के बीच चार परिधियाँ करनी चाहिए। बीच वाला वृत्त दो भागों वालों होना चाहिए। बाहर का वृत्त-वलय अट्ठाईस भाग वाला कहा गया है और उसके भीतर का वलय-क्रम से आठ-आठ अंशों से छोड़ दिया जाता है, ऐसा कर लेने पर मध्य में ब्रह्मा का पद चतुष्पद कहलाता है और यही चौंसठ पद वाला वृत्त-वास्तु कहा जाता है।[2]

**शतपद-वृत्त-वास्तु** - राजा भोज का कथन है कि वृत्तविष्कम्भ विस्तार के दस-दस भाग (10 छ 10 = 100) विभाजित कर लेने पर समभाग के अन्तर वाली पाँच परिधियाँ बनानी चाहिएँ और बीच में दो भाग वाला वृत्त होता है। उसका बाहरी वलय 36 पदों का होता है। शेष विभाजन चौंसठ पद वाले वास्तु के समान होता है। इन दोनों के देवताओं के पदों का संक्षेप चतुरश्र चौकोर वास्तु-पदों के समान होता है। इस प्रकार समराङ्गणकार का कथन है कि कार्यवश बुद्धिमान स्थपति के द्वारा नाना अन्य वास्तुओं की योजना करनी चाहिए।[3]

**त्र्यश्रादि-वास्तु-पद** - महाराजा भोज के अनुसार त्रिकोण और छः कोण, अष्टकोण, सोलह कोण, वृत्तायत, अर्धचन्द्राकार वास्तु में भी वृत्तवास्तु के समान पद विभाजन करना चाहिए।[4]

**वास्तु-पुरुष** - महाराजा भोज ने वास्तु पुरुष के स्वरूप की परिकल्पना करते हुए आलोच्य ग्रन्थ में कहा है कि, "वास्तु-पुरुष एक ही है, उसे नाना प्रकारों से प्ररिकल्पित किया गया है तथा सभी विभक्त संस्थानों में वैसा ही लक्षण करना चाहिए। इस काल्पनिक वास्तु-पुरुष के शरीर के विषय में उन्होंने कहा है कि, ऐसा वास्तु पुरुष जिसमें गुण और दोष दोनों होते हैं। इसके शरीर कल्पन में क्रमशः पहले मुख, फिर सिर, फिर कान (दो), आंख, तालु, ओष्ठ, दांत, छाती, कण्ठ, स्तन (दो), नाभि, लिङ्ग, अण्डकोष (दो), गुदा, बाहु (दो), प्रबाहु (दो), हाथ दो, उरु दो और जंघा दो तथा पैर दो। इस तरह पुरुष की आकृति वाला वास्तु-पुरुष बनाना चाहिए। शिराएँ वंश तथा अनुवंश, सन्धियाँ और

---

1. ये तथादितिपर्यन्ताः पर्जन्याद्याः सुरोत्तमाः। तेऽष्टौ चतुर्भागभुजो विद्वद्भिरिह कीर्तिताः।।
   चरकान्ता जयन्ताद्या ये बाह्यास्थतयोऽमराः। भोगोऽर्धपदिकस्तेषां षोडशानामपि स्मृतः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12, श्लोक-6-7

2. चतुरश्रीकृते क्षेत्रे त्रयस्त्रिशद्विभाजिते। अन्त्यपङ्क्तिद्वयं सार्ध चरवयाद्यर्यमुत्सृजेत।।
   अन्तरे वीथिकामर्धपदिकामुत्सृजेत् ततः। मध्ये तु सप्तविंशत्या भोगैर्वास्तु विभाजयेत्।।
   एकोनत्रिंशत युक्तं पदानां शतसप्तकम्। यद् भवेत् तत्र गर्भे स्यादेकाशीतिदः स्वभूः।।
   अष्टादशपदाश्वाष्टौ चापप्रभृतयः पृथक्। अर्यमाद्यं चतुःपञ्चाशत्पदं स्याञ्चतुष्टयम्।।
   ईशादयस्त्वदित्यन्ता बाह्या नवपदाः सुराः। देशानां सन्निवेशेऽसौ साहस्रो वास्तुरूच्यते।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12, श्लोक-8 से 12

3. अथोच्यते वृत्तवास्तुर्वृत्तप्रासादहेतवे।
   एकाश्चतुःषष्टिपदभागः शतपदोऽपरः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12, श्लोक-13

4. अष्टधा भाजिते वृत्तविष्कम्भे भागिकान्तरान्। चतुरः परिधीन् कुर्यान्मध्यवृत्तं द्विभागिकम्।।
   स्याद् बहिर्वृतवलयमष्टाविंशतिभागिकम्। तदन्तर्वृत्तवलयमष्टाष्टांरोज्झितं क्रमात्।।
   एवं कृते भवेन्मध्ये ब्रह्मणस्च्चतुष्टपदम्। इत्थं चतुःष्टिपदो वृत्तवास्तुरुदाहृतः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12/14-16

अनुसंधियाँ मर्म तथा महावंश वास्तु-शरीर में लक्षित किये गये हैं। कान तक जो शिराएँ फैलती हैं वे नाड़ी कहलाती हैं तथा सहस्त्र-पद का सोलहवां भाग उसी प्रमाण से लक्षित होता है। पूर्व तथा पश्चिम में उत्तर तथा दक्षिण में मध्य में दो-दो महावंशों का प्रमाण-पद का पञ्चम भाग कहा गया है। इसमें जो वंश कहे गये हैं वे मुख्यतः फैली हुई रेखाएँ हैं और जो टेढ़ी आकार वाली रेखाएँ हैं उनको अनुवंश कहा गया है। इनके सम्पातों को मर्म नाम से सम्बोधित किया गया है। जो पद के मध्य में है उनको उपमर्म कहा गया है और इनका आठवां, दसवां, बारहवां तथा सोलहवां भाग कहा गया है। वंशादिकों का क्रमशः पद से प्रमाण वर्णित है। आठों वंशों की जो सन्धियाँ हैं उनको सन्धि कहा गया है। फिर जो वंशों के अंगों की सन्धियाँ है उनको अनुसन्धि कहा गया है। सन्धियों का प्रमाण, वालाग्र के समान कहा गया है। उनका आधा प्रमाण अनुसन्धियों का प्रमाण कहा गया है। यत्न से इनको वास्तु-विद्या-विशारद स्थपति त्याग कर द्रव्यों का विनिवेश करें।[1]

**महावंशादि-पीड़न-फल** – आलोच्य ग्रन्थ में कहा गया है कि किसी भी द्रव्य से महावंश का अतिक्रमण न करे। अन्य मध्य वंशों में द्रव्य को छोड़ दे।

महावंश के अतिक्रमण में स्वामिवध निश्चित है। वंशों के पीड़न से वर्षा की भीति और तपन भीति प्राप्त होती हैं। उपमर्मों के पीड़न से रोग प्राप्त होता है। मर्मों के पीड़न से कुल-हानि होती है। शिराओं के पीड़न से उद्वेग और अनर्थ उपस्थित होता है। सन्धियों और अनुसन्धियों के पीड़न होने पर कलि उपस्थित होता है इसलिए इन सबको पीड़ित होने से बचाये।

इस प्रकार समराङ्गणकार का कथन है कि वास्तु-देह में शिराओं, अनुशिराओं, नाड़ियों, वंशों एवं अनुवंशों तथा मर्मों को यत्न से समझकर ही वास्त्वारम्भ करना चाहिए और उसका फल यह है जो इनके वेध का त्याग करे। वास्तु का आरम्भ उसको आपत्ति अर्थात् संकट प्राप्त नहीं होता।[2]

**वास्तु-पुरुषाङ्ग देवता** – आलोच्य ग्रन्थ के 14वें अध्याय में राजा भोज ने देवताओं के पृथक्-पृथक् प्रकारों से सम्विभक्त पदों का वर्णन किया है अर्थात् वास्तु पुरुष के अङ्गों पर कौन-कौन-सा देवता किस स्थान पर निवास करते हैं तथा प्रयत्नवान स्थपति को पुरुष आकृति वाले

---

1. दशधा भाजिते वृत्तविष्कम्भे भागिकान्तराः। कार्याः परिधयः पञ्च मध्ये वृत्तं द्विभागिकम्।।
बहिस्थं वलय तस्य भजेत् षट्त्रिंशता ततः। शेषं चतुःषष्टिपदस्थित्या स्याच्छतवास्तुनिः।।
देवतापदसङ्क्षिप्तिरनयोश्चतुरश्रवत्। एवं कार्यवशात् कार्या वास्तवोऽन्येऽपि धीमता।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12, श्लोक-17 से 19

2. त्र्येश्रे षडश्रे चाष्टाश्रे षोडशाश्रे च वृत्तवत्।
वृत्तायतेऽर्धचन्द्रे च वास्तौ पदविभाजनम्। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12, श्लोक-20

क. एक एवं पुमानेषु बहुधा परिकल्पितः। सर्वस्मिन संस्थाने विभक्ते लक्षयेत ततः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12, श्लोक-21

ख. कल्पयेदेवमेतन स भवेत् पुरुषाकृतिः। सिरावंशानुवंशाश्च सन्धयः सानुसन्धयः।।
मर्माण्यथ महावंशा लक्ष्या वास्तुशरीरगतः। शिराः कर्णगता याः स्युस्ता नाडयः परिकीर्तिताः।।
पदस्य षोडशो भागस्तत्प्रमाणं प्रकीर्तितम्। महावशौ प्राक्प्रतीच्यौ याम्योदीच्यौ च महयगौ।।
प्रमाणं पञ्चमो भागः पदस्योदाहतं तयोः। वंशास्तेऽस्मिन समुद्दिष्टा रेखा याः स्युर्मुखायताः।।
उपमर्माणि तान्याहुः पद्मध्यानि यानि हि। भागोऽष्टमोऽथ दशमो द्वादभः षोडशोऽपि च।।
यास्तिर्यगायता रेखास्तेऽनुवंशाः प्रकीर्तिताः। सम्पाता ये स्युरेतेषां मर्म तत् संप्रचक्षते।।
पदतो मानमिष्टं स्याद् वंशादीनामनुक्रमात। वंशाष्टकस्य भः सन्धिः स सन्धिरिति कीर्तितः।।
ये पुनः स्युस्तदङ्गानां प्रोक्तास्ते चानुसन्धयः। वालाग्रतुल्यं सन्धीनां प्रमाणं परिचक्षते।।
तदर्धमनुसन्धीनां प्रमाणं समुदीरितम्। यत्रैतानि सन्त्यज्य वास्तुविद्याविशारदः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12, श्लोक-24 से 32

वास्तु पुरुष का निर्माण करे। उसके सिर को अग्नि कहा गया है, दोनों आंखों को दिति और मेघों का अधिपति (वरुण) कहा गया है और इसके कानों को जयन्त और अदिति कहा गया है। मुख में वायु स्थित है। दक्षिण बाहू में सूर्य और वाम बाहू में चन्द्र प्रतिष्ठित कहे गये हैं और इसके वक्षःस्थल पर आपवत्स के सहित महेन्द्र और चरक स्थित हैं। दक्षिण स्तन पर अर्यमा तथा वाम स्तन पृथ्वीघर बताये गये हैं।[1]

यक्ष्मा, रोग, नाग, मुख्य, भल्लाट ये पांचों देवता बाई बाहू में समाश्रित कहे गये हैं। सत्य, भृश, नभ, वायु और पूषा — ये पांचों देवता इस वास्तु-पुरुष की दक्षिण बाहू में प्रतिष्ठित हैं। सावित्र अर्थात् गणेश सविता, रुद्र और शक्ति-धर- ये चारों देवता दोनों हाथों की हथेलियों में प्रतिष्ठित हैं और हृदय में ब्रह्मा विराजमान हैं। वितथ और ओकःक्षत- ये दोनों देव इसकी दक्षिण बगल में स्थित हैं और बाई में शोष और असुर नामक देवता स्थित है। मित्र और विवस्वान् इसके पेट में आश्रित हैं। इन्द्र और जय नामक दो देवता इसके लिंग के मध्य भाग में स्थित हैं। यम और वरुण क्रमशः दाईं ओर और बाईं ऊरु में स्थित हैं। मृग सहित गन्धर्व और भृङ्ग दक्षिण जंघा में स्थित हैं। द्वास्य, सुग्रीव और पुष्प नामक देवता बाईं जंघा में स्थित हैं। पितृगण चरणों में स्थित हैं।[2]

**वास्तु-पुरुष की शिर-दिशा** – वास्तु पुरुष के शिर की दिशा के विषय में इक्यासी पद वाले वास्तु-पद में वास्तु-पुरुष का शिर ईश-दिग्विभाग (उत्तर-पूर्व) में आश्रित है और चौंसठ पद वाले वास्तु में उसका शिर माहेन्द्री (पूर्व दिशा) दिशा में संश्रित है। इक्यासी पद वाले वास्तु से ही सौ पद वाला वास्तु उत्पन्न होता है और सोलह पद वाला वास्तु चौंसठ पद वाले वास्तु से उत्पन्न होता है।[3]

**वास्तु-देवता-निघण्टु** – आलोच्य ग्रन्थ में वास्तु पुरुष के शरीर पर जो जो देवता विद्यमान हैं अर्थात् जो देवता पूर्व में वास्तु पुरुषाङ्ग में बताये गये हैं उनके नाम संज्ञा इत्यादि के विषय में कहा गया है कि देवों के मध्य में जो कमल भूब्रह्मास्थित हैं वह हज़ार मुख वाले ब्रह्मा अचिन्त्य-विभव हैं, वे ही सारे जगत् के मालिक हैं। इस अध्याय में जिस अग्नि का उल्लेख किया गया है वह सर्वभूत हर भगवान् शंकर है और जिस पर्जन्य नाम वाले देव का कथन हुआ है वह वृष्टिमान अंबुदाधिप हैं। द्विनाम वाले जो जयन्त हैं, वह भगवान् कश्यप ऋषि हैं और जो महेन्द्र है वे देव-पति हैं और राक्षसों

---

1. इतरेषु पुर्नद्रव्यं मध्यवंक्षेषु सन्त्यजेत्। महावंशसमाक्रान्तौ भवेत् स्वामिविधो ध्रुवम।।
वर्षेण तपनाद् भीतिं वंशानां पीडनाद् विदुः। उपमर्माणि रोगाय मर्माणि कुलहानये।।
उद्वेगायार्थनाशाय सिराश्च स्युः प्रपीडिताः। कलिः स्यात् सन्धिविद्वेषु पीडितेषनुसन्धिषु।।
तस्मादेतानि सर्वाणि पीडितान्युपलक्षयेत। ज्ञात्वा सिराः सानुसिराश्च नाडीवंशानुवंशानपि वास्तुदेहे।।
यत्रेण मर्माण्धि फलानि चैषां वेधं त्यजेद् यस्तमुपैति नापत्।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-12, श्लोक-34 से 38

2. देवतानां पदैरित्थं संविभक्तैः पृथग्विधैः। स्थपतिः प्रयतः कुर्याद् वास्तुमित्थं पुमाकृतिम्।।
शिरस्तस्याग्निरूद्दिष्टं दृष्टिर्दित्यम्बुदाधिपौ। जयन्तश्चादितिश्चास्य कर्णो वायुर्मुखे स्थितः।।
अर्कः स्याद् दक्षिणे वाम भुजे सोमः प्रतिष्ठितः। महेन्द्रचरकौ सापवत्सावस्योरसि स्थितौ।।
स्तनेऽर्यमा दक्षिणे स्याद् वामे च पृथिवीधरः। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-14, श्लोक-1 से 4

3. दक्षिणेतरमेतस्य बाहुं देवाः समाश्रिताः। सत्यो भृशो नभा वायुः पूषा चेत्यथ दक्षिणम्।।
पञ्चापि बाहुमेतस्य संश्रितास्त्रिदिवौकसः। सावित्रसवितारौ च रुद्रशक्तिधरावपि।।
चत्वारोऽमी क (लाधि? फोणि) स्थाः करयोर्हृदि च स्वभूः। वितथौकः क्षतौ पार्श्वे दक्षिणेऽस्य व्यवस्थितौ।।
वामे पुनः स्थितावस्य देवौ शोषासुराभिधौ।। मित्राभिधो विवस्वांश्च द्वावप्युदरमाश्रितौ।।
मेदमध्यस्थितावस्य सुराविन्द्रजयाभिधौ। यमश्च वरुणश्चोर्वोः क्रमाद् दक्षिणवामयोः।।
गन्धर्वभृङ्गौ समृगौ जङ्घा राज्यामथेतराम्। द्वास्यसुग्रीवपुष्पाख्या संश्रिताः पितरोऽध्रिगाः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-14, श्लोक-5 से 10

के संहारक कहे गये हैं। दिनकर विवस्वान् को आदित्य कहते हैं, सत्य से अभिप्राय प्राणियों के हितैषी धर्म से है और भृश के अर्थ है। भगवान् कामदेव और जो अन्तरिक्ष देव हैं वे नभोदेव कहे जाते हैं। मारुत से अभिप्राय वायु है और पूषा से मातृगण का तात्पर्य है। वितथ नामक जो देव हैं, वह कलियुग के अप्रतिम सुत अधर्म है।[1]

ग्रहक्षत नाम के जिस देव का बखान किया गया है वह चन्द्रमा के पुत्र बुध हैं। प्रेतों के मालिक श्रीमान यम वैवस्वत हैं, भगवान् गन्धर्व देव नारद परिकीर्तित हैं। निर्ऋहति के लड़के राक्षस से अभिप्राय यहाँ पर भृङ्गराज से है और जो जहाँ पर मृग कहे गए हैं, उनसे स्वयंभू ब्रह्मा और धर्म का मतलब है। पितृगणों से पितृ-लोक के निवासी देव वर्णित हैं ओर दौवारिक से प्रथमों के अधीश्वर नदी का अभिप्राय है। सुग्रीव से आदि प्रजापति सृष्टिकर्ता मनु व्यपदिष्ट हैं। पुष्पदन्त विनता के लड़के महाशाली वायु हैं। वरुण जो हैं, वह समुद्रों अर्थात् जलों के मालिक और लोकपाल भी कहे गए हैं। असुर से अभिप्राय सूर्य एवं चन्द्र के ग्रासक सिंहिका राक्षसी के लड़के राहु से हैं। शोष से सूर्य-पुत्र भगवान् शनिश्चर का अभिप्राय है। पाप-यक्ष्मा से क्षय का बोध होता है और रोग से ज्वर प्रतिपादित है। नाग से सर्पों के मालिक श्रीमान् वासुकि शेषनाग कहे गये हैं।[2]

मुख्य की संज्ञा वाले देव से विश्वकर्मों और त्वष्टा से अभिप्राय है। भल्लाट को चन्द्र कहा गया है और सोम संज्ञा वाले देव को कुबेर कहा गया है। व्यवसाय नाम वाले चरक कहे गये हैं और यहाँ पर अदिति नाम से अभिप्राय लक्ष्मी से है। यहाँ पर दिति से त्रिशूल धारण करने वाले वृषध्वज शंकर कहे गये हैं इनको हिमालय भी कहा गया है। आपवत्स से उमा कहा गया है। अर्यमा से आदित्य और सावित्र से वेदमाता कही गई है। विद्वानों के द्वारा यहाँ पर सविता को गंगा देवी कहा गया है। विवस्वान् मृत्यु शरीरहर्ता से शरीर को हरण करने वाला मृत्यु कहा गया है। जय नामक देववज्र धारण करने वाले हरि इन्द्र कहे गये हैं। मित्र से माली हलधर और रुद्र तो महेश्वर कहे गये हैं। राजयक्ष्मा स्वामि कार्तिकेय कहे गये हैं और क्षितिध्र पृथ्वीधर से भगवान अनन्त शेषनाग कहे गये हैं चरकी, विदारी, पूतना, पापराक्षसी, इनको राक्षस योनि में उत्पन्न होने वाली देवताओं की अनुचरी कहा गया है। इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ में वास्तु देवों का यह निघंटु परिकीर्तित किया गया है।[3]

**वास्त्ववयव-विदित-वर्ण** – वर्णों के आधार पर भी आलोच्य ग्रन्थ देवों के अङ्गों का वर्णन

---

1. एकाशीतिपदस्येशदिग्विभागश्रितं शिरः। माहेन्द्रीसंश्रितं विद्याच्चतुः षष्टिपदस्य तु।।
एकाशीतिपदाज्जातो वास्तुः शतपदाभिधः। यः षोडशपदः स स्याज्चतुष्षष्टिपदोद्भवः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-14, श्लोक-11 से 12

2. योऽयं वह्विरिहोक्तः स सर्वभूतहरो हरः। पर्जन्यमामा यश्चायं वृष्टिमानम्बुदाधिपः।।
जयन्तस्तु द्विनामाख्यः कश्यपो भगवानृषिः। महेन्द्रस्तु सुराधीशो दनुजानां विमर्दनः।।
आदित्यं पुनरिच्छन्ति विवस्वन्तमहस्करम्। सत्यो भूतहितो धर्मो भृशः कामोऽथ मन्मथः।।
योऽन्तरिक्षः स्मृतो देवस्तन्नभः समुदाहृतम्। मारुतो वायुरुद्दिष्टः पूषा मातृगणः स्मृतः।।
अधर्मो वितथाख्यः स्यात कलेरप्रतिमः सूतः। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-14, श्लोक-14 से 17

3. प्रेतधिपो मतः श्रीमान् यमो वैवस्वतश्च सः। गन्धर्वो भगवान देवो नारदः परिकीर्तितः।।
भृङ्गराजमिहेच्छन्ति राक्षसं निर्ऋतेः सुतम्। यो मृगोऽस्मिन्ननन्तः स स्वयंभूर्धर्म इत्यपि।।
आदिः प्रजापतिः स्रष्टा मनुः सुग्रीव ईरितः। पुष्पदन्तस्तु विनतातनयः स्यान्महाजवः।।
वरुणः पाथसां नाथो लोकपालः स कीर्तितः। असुरो राहुरर्केन्दुमर्दनः सिंहिकात्मजः।।
शोषस्तु भागवानेष सूर्यपुत्रः शनैश्चरः पापयक्ष्मा क्षयः प्रोक्तो रोगस्तु कथितो ज्वरः।।
भुजङ्गमानामधिपः श्रीमान नागस्तु वासुकि। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-14, श्लोक-19 से 24

हुआ है जैसे – 'क्ष' मूर्धा में, 'ह' दोनों आँखों के मध्य में 'स' नासिका में, 'ष' ठोढ़ी में, 'श' कण्ठ में, 'व' हृदय में, लकार नाभि देश में, रेफ वस्ति में, यकार लिंग में, मकार दोनों मुष्कों में, नकार ऊरू में, नकार जानु में, ञकार पिण्डिका में, ङकार दोनों एड़ियों में, पकार चरणों में स्मृत किये गये हैं।[1]

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ के इस अध्याय में वास्तु पुरुष के सम्पूर्ण अङ्गों तथा वास्तु-पद के देवताओं के नाम-भेद का वर्णन हुआ है। यहाँ पर वास्तु-शरीर के अवयवों (भागों) में सोलह प्रकार के वर्णों का ही वर्णन राजा भोज ने किया है।

**निर्माण हेतु उचित सामग्री** – मानव जीवन का संघर्ष ही देवत्व की प्राप्ति है यही चिरंतन भारतीय संस्कृति का मर्म है। अपार्थिव स्वर्ग का पार्थिव संसार में जब मिलन हुआ तब पृथ्वी ने अपने सहज सौन्दर्य एवं आकर्षण से स्वर्ग को अपने ऊपर प्रतिष्ठित किया और यह स्वर्ग देवप्रासाद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। प्राचीन हिन्दू देवप्रासादों में सर्वप्रथम पक्वेष्टका, मृतिका तथा वृक्षदारू का प्रयोग होता था परन्तु ईसा पूर्व 5वीं शताब्दी में देवप्रासादों के निर्माण में पाषाण का प्रयोग होने लगा। पाषाण का सर्वप्रथम प्रयोग वास्तु-कला में देवप्रासादों-देवतायतनों के निर्माण में ही हुआ था। "समराङ्गणसूत्रधार" के समय में भी शिलान्यास की परम्परा विशेष प्रचलित थी।

**पाषाण शिला** – शिलान्यास की परम्परा पर राजा भोज ने पूर्ण रूप से विवेचन किया है। राजा भोज का कथन है कि पुण्य उत्तरायण में, मास के शुक्लपक्ष में, शुभ दिन स्थिर-ग्रह वाले गुण से युक्त दिवस और कारण में तिव्य-अश्विनी-रोहिणी में और तीनों उत्तराओं में, रेवती, श्रवण और हस्त में शिलान्यास का आचरण करे। पूर्ण बराबर, अविकल, चौकोर, साध्वी, पहली शिला की चय विधि में विचक्षण स्थपति परीक्षा करे।

**प्रशस्त शिला** – कुम्भ, अंकुश, ध्वज, छत्र, मत्स्य, चामर तोरण दुर्वा, नागफल, उष्णीष, पुष्प और स्वस्तिक तथा वेदियों से और चामर सहित नान्द्यावर्तो से, कूर्म (कछुवा) पद्म और चन्द्रमा से वज्र के समान प्रशस्त प्रकारों से भूषित शिलाएँ आलोच्य ग्रन्थ में कर्म हितकारक कही गई हैं।[2]

**अप्रशस्त शिला** – जो शिला दीर्घ, छोटी, विषम, आध्मात्, अपरीक्षित, दिङ्मूढ़, अंगहीन, हड्डी, अंगार अथवा कंकड़ों से युक्त, खण्डित, बुरी पकी हुई, फटी हुई और काली हो वह सब दोष भय वाली कही गई हैं। मनुष्यों के और पशुओं में घोड़ों के पद-चिन्हों से चिन्हित शिला मंगल की वृद्धि करने वाली कही गई हैं। मांसाहारी मृग और विहंगों के पादों से स्पर्श की गई शिलाओं को छोड़ दे।

**शिला के प्रकार** – नन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा — ये चार शिलाएँ कही गई हैं और उन्हीं के समान वाशिष्ठ, काश्यपी, भार्गवी, आंगिरसी — ये क्रमशः उनकी संज्ञाएं हैं। वास्तु सन्निवेश की

---

1. दितिरत्रोच्यते शर्वः शूलभृद् बृषभध्वजः। हिमवानाप इत्युक्त आपवत्स उमा स्मृता।।
आदित्यस्तवर्यमा वेदमाता सावित्र उच्चते। देवी गङ्गात्र विद्वद्भिः सवितेति प्रकीर्तिता।।
मृत्युः शरीरहर्तासौ विवस्वानिति स स्मृतः। जयाभिधस्तु वज्रीति स्यादिन्द्रो बलवान् हरिः।।
मित्रो हलधरो माली रुद्रस्तूक्तो महेश्वरः। राजयक्ष्मा गुहः प्रोक्तः क्षितिधोऽनन्त उच्यते।।
चरकी च विदारी च पूतना पापराक्षसी। रक्षोयोनियवा ह्येता देवतानचरीर्षिदः।।
इत्येष वास्तुदेवानां निधण्टुः परिकीर्तितः। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-14, श्लोक-26 से 31

2. क्षो मूर्ध्नि हो दशोर्मध्ये सो घ्राणे चिबुक तु ष।।
शः कण्ठे हृदये वः स्याल्लकारो नाभिदेशगः। रेफो बस्तौ यकारस्तु मेढे मः (पुष्य? मुष्क) काबुभो।।
नकारा ऊरुर्णो जानु ञ्कारः पिण्डिकाश्रितः। (ड? ङ) कारो गुल्फयोरन्ते पकारोऽङ्घिन्तले स्मृतः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-14, श्लोक-31 से 33

निर्ऋत्य दिशा में पुष्प सहित बराबर, गोचर्म-सम्मित, गंध और कलशों सहित चौकोर वेदी बनाए। आग्नेय दिशा में क्रमशः पहले नन्दा नामक शिला का स्थापन करे और उसका अकाल-मूल वाले अविकल अंग वाले, पद्म, उत्पल एवं पल्लवों सहित सर्वोषधियों एवं हिरण्य आदि से, सुवर्ण, चाँदी अथवा तांबे से बने हुए घड़ों से मन्त्रोच्चारण करते हुए अभिषेचन करे। तीर्थ के बहते हुए जलों से, रत्न, अक्षत और कमलों के साथ सुगंधित मांगलिक अभिषेक का प्रयोग करें। गंगा, यमुना, रेवा, सरस्वती आदि से लाया गया अथवा महानदी का जल तथा शुभ तीर्थों से लाया गया जल प्रशस्त कहा गया है। उसी प्रकार पर्वत, वन, वेदान्त, देवायतन से लाये जल से अभिषेक करना चाहिए।[1]

"हिरण्य-वर्ण, पवित्र करने वाले शुचि और पाप का नाश करने वाले, शन्ति, श्रीयुत, मधुच्यु से जल तुम लोगों की रक्षा करे।" इस मन्त्र से इनका अभिषेक करे तथा इस मन्त्र के द्वारा पवित्र किये हुए जल से शिला को स्नान करा कर, स्थपति गंधयुक्त मांगलिक पदार्थ से उस पर लेप करें। शीतल चन्दन से पूर्ण सुगन्धि को उसमें मिलाकर लेप करें फिर शिला को लावों सहित पुष्प-मालाओं के द्वारा ढक दें और धूप, मालाओं, उपहारों, दधि, मांस और अक्षत आदि से तथा पुष्कल वस्त्र के जोड़ों से इष्टिका देवी को पूजा करें।[2]

शिला-निवेशन के बाद तब नैर्ऋत्य दिशा में सम संख्या वाले (चार, आठ, बारह, सोलह) पवित्र, विद्वान्, बैठे हुए ब्राह्मणों की दक्षिणा-फलों से पूजा करें। फिर कर्त्ता ओंकार, स्वस्ति मांगलिक गीत और बाजा आदि रोमांचित होकर उन लोगों को प्रणाम करें। समराङ्गण सूत्रधार के अध्याय में राजा भोज ने इस प्रकार शिलायुक्त देवप्रासाद का वर्णन किया है कि लयन देवप्रासाद शैल-खनन-पर्वतों को काट-काटकर बनाये जाते है। इस प्रकार शिला का यथावत् विन्यास करना चाहिए। इस प्रकार के विधान करने पर वेश्म और देवप्रासाद आदि की निष्पत्ति बिना विघ्न के पूर्ण होती है।[3]

**काष्ठ :-** पृथ्वी पर भवन या शरण की उत्पत्ति का प्रथम द्रव्य काष्ठ था। प्रकृति से विकृति,

---

1. रेवत्यां श्रवणे हस्ते शिलाविन्याससमाचरेत्। स्थिरस्य राशेरूदये सौम्यमित्रावलोकिते।।
पूर्णां समामविकलां चतुरश्रामनिन्दिताम्। शिलामाद्यां चये साध्वीं परीक्षेत विचक्षणः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-3, 6

2. कुम्भाङ्कुशध्वचछत्रमत्स्यचामरतोरणैः। दूर्वानागफलोषाणीषपुष्पस्वस्तिक वेदभिः।।
नन्द्यावर्तैः सचमरैः कूर्मपद्मनिशाकरैः। वज्रैः प्रशस्तैः प्राकारैर्भूषिताः कर्मणो हिताः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-7 से 8

3. दीर्घा हस्वाल्पविषमाछाभाध्मातापरीक्षिता। दिङमूढा चाङ्गहीना च सास्थ्यङ्गारा सशर्करा।।
खण्डा दुःपकनिर्भिन्ना कृष्णा दोषभयावहा।।
नृणां पशुतुरङ्गाणां पदाञः स्वस्तिवृद्धये। कण्यान्मृग विहङ्गनां पादैः स्टष्टास्तु वर्जयेतृ।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-9 से 11

क. नन्दाभद्राजयापपूर्णाश्वतस्रः स्युरिमाः शिलाः। वासिष्ठी काश्यपी तद्वद् भार्गव्याङ्गिरसीति ताः।।
तत्र प्रागुत्तरे देशे संनिवेशस्य वास्तुनः।।
नैर्ऋत्यां वा सकुसुमां समां गोचर्मसम्मिताम्। वेदीं सगन्धकलशां चतुरश्रां प्रकल्पयेत।।
सर्वोषधिहिरव्याधैहैमराजतमृन्मयैः। कुम्भैस्ताभ्रमयैश्चापि मन्त्रैस्तामभिषेयेत्।।
तीर्थप्रस्रवणाम्भोभिः सरताक्षतपङ्कजैः। सुगन्धिभिः सपुव्याहमभिषेक प्रयोजयेत्।।
तथाद्रिवनवेशन्तदेवायतनजानि च। अभिषेकार्थमम्भासि यथालाभमुपाहरेतृ।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-12 से 18

देवत्व से नरत्व, परमपद से अधः पतन की ओर प्रस्थान करने वाले मानवों का त्रेतायुग में वृक्ष ही सहारा था। भवन तथा देवप्रासादों के निर्माण द्रव्यों में काष्ठ का प्रथम स्थान रहा है। समराङ्गणसूत्रधार 59वें अध्याय के विमानादि 64 प्रासादों में दारू अर्थात् काष्ठ देवप्रासादों की प्रासाद-प्रकृति का वर्णन हुआ है हर्म्य नामक देवप्रासाद का वर्णन इस प्रकार से है इस एक-भूमिक ही बनाना चाहिए। इसके निर्माण में काष्ठ का प्रयोग होना चाहिए तथा आकृति चौकोर हो। विभवानुसार धार्मिक लोग दारूज अर्थात् काष्ठ, शैलज तथा मृन्मय कैसा भी हो सके, देवप्रासाद निर्मित करें। नगरों के देवप्रासादों के लिए पक्वेष्टका तथा पाषाणशिलाओं का ही विशेष विधान है, परन्तु छोटे-छोटे कस्बों में, जहाँ पर प्रकृतिप्रदत्त सुलभ सामग्री की कमी नहीं है वहाँ दारूज तथा मृन्मय देवप्रासाद निर्मित करें।[1]

**इष्टका :-** देवप्रासाद द्रव्यों में सबसे पुरातन द्रव्य इष्टका है। वैदिक यज्ञों में इष्टका चयन सम्भवतः अपक्व मृन्मयी इष्टकाओं (कच्ची मिट्टी की बनी ईंटों) का ही होता था। इसी प्राचीन वैदिक मृन्मयी इष्टकाओं की अग्नि चयन परम्परा से कालान्तर में देवप्रासाद निर्माण मे पक्वेष्टकाओं का प्रयोग चला आ रहा है परन्तु इष्टा की अपेक्षा पक्वेष्टका कहीं अधिक दृढ़ एवं स्थिर होती है। देवप्रासाद में इष्टका-प्रयोग के प्रथम उनके आवाह्न की भी रीति प्राचीन वैदिक यज्ञ परम्परा की ही अनुगामी है इष्टका चौकोर होती है। आलोच्य ग्रन्थ के अध्याय में इष्टका से निर्मित देवप्रासादों का भी उल्लेख हुआ है। ये देवप्रासाद पाताल में पाषाणों (साधारण पत्थर) तथा स्फटिक (संगमरमर) से निर्मित निर्दिष्ट किये गये हैं। जहाँ तक मर्त्यलोक अर्थात् इस भूतल की बात है वहाँ ये देवप्रासाद ईंटों तथा काष्ठों से विनिर्मित होकर मानवों के लिए नन्दक हैं। बनाने वाले तथा बनवाने वाले दोनों के लिए ये कल्याणकारी होते हैं। हिन्दू देवप्रासादों के निर्माण में इष्टकान्यास की परम्परा आज भी प्रचलित है। वैदिक अग्निचयन की जो परम्परा विहित है वही देवप्रासाद निर्माण में भी है। इष्टकान्यास देवप्रासाद की स्थापना का प्रमुख अंग है।[2]

इस प्रकार समराङ्गण सूत्रधार में पाषाण, काष्ठ तथा इष्टका इन तीनों द्रवों का उल्लेख किया गया है।[3]

इस प्रकार इस अध्याय के अन्तर्गत आलोच्य ग्रन्थ के आधार पर सर्वप्रथम देवप्रासाद निर्माण के लिए भूमि चयन में सोलह प्रकार की भूमियों का लक्षण सहित वर्णन करने के साथ ही भूमियों की

---

1. मन्त्रेणानेन चैतासामभिषेक समाचरेत्। हिरण्यवर्णाः पावन्यः शुचयो दुरितच्छिदः।।
   पुनन्तु शान्ताः श्रीमत्स आपो युष्मान्मधुच्युतः। मन्त्रपूतेन पयसा स्नापयित्वा ततः शिलाम्।।
   स्थपतिर्गन्धकल्केन मङ्गल्येनानुलेपयेत्। हिमचन्दनपूर्णेन व्यवकीर्य सुगन्धिना।।
   तरसाः छादयेदेनां सलाजैः पुष्पदामभिः। धूपमाल्योपहारेश्च दधिमांससाक्षतादिभिः।।
   निवेशनान्ते नैर्ऋत्यां तदा विप्रानवस्थितान्। पूजयेदिष्टकां देवीं वस्तत्रयुरमैश्च पुष्कलैः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-19 से 23

2. समसङ्खयाञ्च शुचीन् प्राज्ञानर्चयेद् दक्षिणाफलैः। ओङ्कारस्वस्तिपुण्याहगीतवादित्रनिस्वनैः।।
   शिलान्यासविधानमेतद् यथावदस्माभिरिहोपदिष्टम्। अस्मिन कृते वेश्मसुरालयादि निष्पत्तिमभ्येति विनैव विघ्नम्।।
   इदानीं लयनं ब्रुभः स शैलखनाद् भवेत्। निःश्रेव्यारोहसोपाननिर्यूटकगवाक्षकान्।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35 एवं 59, श्लोक-24, 47 एवं 236

3. ब्रमोऽथ हर्म्य प्रासादं तं कुर्यादेकभूमिक। दारूजं चतुरस्त्रं च (पट्टतुलादिभित्तिभिः ?) ।।
   विभवः कथ्यते स स्यात् (सूर्यामन्यसमाश्रयः ?) दाखे दाखो योज्यः शैलजे शैलसम्भवः
   मृन्मये-मृन्भयः कार्यश्चयने चयनोद्भवः। प्रत्यन्तग्रामखेटेषु दारुस्तमभैर्विधीयते।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-59, श्लोक-217, 240 एवं 241

प्रशस्तता एवं अप्रशस्तता की चर्चा के अनन्तर मिट्टी परीक्षा की पांच प्रक्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् वास्तु परिचय के सन्दर्भ में वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति, क्षेत्र, उत्पत्ति, देवप्रासाद निर्माण के लिए उचित वास्तु परिचय एवं वास्तु के विभिन्न प्रकारों, वास्तु पुरुष परिचय, वास्तु देवता निघण्टु विषयक तत्त्वों को उद्घाटित किया गया है तथा अन्त में देवप्रासाद निर्माण हेतु उचित सामग्री का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।[1]

1. इष्टकाकाष्ठपावाणैर्मर्त्यलोकेऽपि नन्दकाः। सुखदाश्च भवन्त्येते कर्तृः कारयितुस्तथा।।

समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–56, श्लोक–7

### चतुर्थ अध्याय

# देवप्रासाद के विभिन्न अंग

**शिलान्यास–** किसी भी देवप्रासाद का निर्माण करने हेतु भूमि चयन, भूमि परीक्षा, वास्तु मण्डल आदि विधि विधानों के सम्पादन अनन्तर सर्वप्रथम शिलान्यास करने हेतु नींव खोदना अत्यन्त आवश्यक होता है। क्योंकि जब तक शिलान्यास नहीं होगा, तब तक शेष ढांचा कैसे खड़ा किया जा सकता है। अतः देवप्रासाद निर्माण हेतु भी उपरोक्त विधियों को करने के बाद सर्वप्रथम नींव खोदकर शिलान्यास करना चाहिए परन्तु आलोच्य ग्रन्थ में देवप्रासाद निर्माण हेतु पृथक शिलान्यास का वर्णन न करके भूमि चयन आदि की भांति ही शिलान्यास विधि भी भवन, पुर इत्यादि के समान ही करने के निर्देश दिये गये हैं।

"शिलान्यास विधि" नामक पैत्तीसवें अध्याय में कहा गया है कि जो शिलान्यास विधि भवन के लिए कही गई है, वही विधि देवप्रासाद के शिलान्यास के लिए भी प्रयोज्य है। वहाँ कहा गया है कि पुण्य उत्तरायण में, मास के शुक्ल पक्ष में, तिष्य-अश्विनी-रोहिणी नक्षत्रों में और तीनों उत्तराओं में भी, रेवती, श्रवण और हस्त में शिलान्यास का आचरण करना चाहिए। वहां स्थिर राशि के उदय होने पर और सौम्यग्रहों तथा मित्र-ग्रहों से अवलोकित लग्न में ठीक तरह से निमित शकुन होने पर और स्वस्तिक तथा मंगल-पाठ करते हुए हर्षत मन होकर वास्तु का निवेशन करने पर दिया गया है। प्रकृति से भद्र-आकृति, शास्त्रज्ञ, पवित्र, स्नात एवं सुसमाहित स्थपति के द्वारा देवार्चन क्रिया सम्पादन करने के बाद स्थपति कर्म का आरम्भ किया जाना चाहिए।[1]

चुनाई के लिए पूर्ण बराबर अविकल, चौकोर साध्वी, इन शिलाओं की परीक्षा का निर्देश दिया है। शिलाओं की प्रशस्तता के विषय में भोज का कथन है कि कुम्भ, अंकुश, ध्वज, छत्र, मत्स्य, चामर, तोरण, दूर्वा, नागफल (नारियल) उष्णीष, पुष्प और स्वस्तिक तथा वेदियों से और चामर सहित नन्द्यावर्तो से, कूर्म पद्म और चन्द्रमा से वज्र के समान प्रशस्त प्रकारों से भूषित शिलाएं ही प्रशस्त या उत्तम होती है। साथ ही यह भी कहा है कि मनुष्यों के और पशुओं में घोड़ों के पद-चिन्हों से चिन्हित शिला मंगल की वृद्धि करने वाली होती है। दीर्घ, छोटी, विषम, आध्मात, अपरीक्षित, दिङ्मूट, अंगहीन, हड्डी, अंगार अथवा कंकड़ों से युक्त, खंडित, बुरी तरह पकी हुई, फटी हुई और काली शिलाएं सब दोषों से युक्त और भय इत्यादि देने वाली कही गई है, साथ ही मांसाहारी मृग और विंहगो (पक्षियों) के पादों से स्पर्श की गइ शिलाओं का परित्याग करने का निर्देश इस ग्रन्थ में दिया गया है।[2]

---

1. एवं शिलान्यासविधानमेतद् यथावदस्माभिरिहोपदिष्टम्। अस्मिन कृते वेश्यसुरालयादि निष्पत्तिमभ्येति विनैव विघ्नम।।
   रेवत्यां श्रवणे हस्ते शिलाविन्यासमाचरेत। स्थिरस्य राशेरूदये सौम्यमित्रावलोकित।।
   सम्यङ्निमित्तशकुनस्वस्तिपुण्याहवाचिते। हर्षोदये च मानसः कुर्याद वास्तोनवेशनम्।।
   भद्रः प्रकृत्या शास्त्रज्ञः शुचिः स्नातः समाहितः। कर्मारभेत स्थपातिः कृतदेवार्चनक्रियाः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-2 से 5

2. पूर्णां समामविकलां चतुरश्रामनिन्दिताम्। शिलामाद्यां चये साध्वीं परीक्षेत् विचक्षणः।।
   कुम्भाङ्कुशहवाजच्छत्रमस्यचामरतोरणैः। दूर्वानागफलोष्णीषपुष्पस्वस्तिक वेदिभि।।
   नन्द्यावर्तौः सचमरैः कूर्मपद्मनिशाकरैः। वज्रैः प्रशस्तैः प्राकारैर्भूषिताः कर्मणो हिताः।।
   दीर्घा हस्वाल्पविषमाछाध्मातापरीक्षिता। दिङ्मूढा चाङ्गहीना च सास्थ्यङ्गारा सशर्कश।।
   खण्डा दुःपक्वनिर्भिक्षा कृष्णा दोषभयावहा। काव्यान्मृगविहङ्गानां पादैः स्प्रष्टास्तु वर्णयेत्।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-6 से 10

शिला के चार प्रकार बताये गये हैं यथा- नन्दा, भद्रा, जय, पूर्णा तथा उन्हीं के समान वाशिष्ठ, काश्यपी, भार्गवी और अंगिरसी शिलाएँ भी कही गई है। जिन्हें क्रमशः उनकी संज्ञाए कहा गया है। तत्पश्चात् प्रागुत्तर दिशा में वास्तु सन्निवेश की नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम) दिशा में पुष्पों-सहित, बराबर, गोचर्म-सम्मित, गंध और कलशों सहित चोकोर वेदी बनाने का निर्देश दिया गया है, तो पहले नन्दा नामक शिला की स्थापना करने का विधान किया है। पूजा की विधि का निर्देश करते हुए कहा गया है कि उसका अकालमूल अविकल अंग वाले पद्म, उत्पल एवं पल्लवों सहित सर्व औषधियों एवं हिरण्य आदि से, सोने-चाँदी और तांबे से बने हुए घड़ों से मन्त्रोच्चारण करते हुए अभिषेचन करना चाहिए तथा इस अभिषेक हेतु जल की प्रशस्ता का निर्देश देते हुए भोज कहते है कि गंगा यमुना, रेवा, सरस्वती आदि नदियों से लाया गया अथवा महानदी से लाया जल प्रशस्त होता है। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि देवतायतन जल से भी यथा लाभ अभिषेक के लिए जल लाना चाहिए।[1]

पुनः इस मन्त्र से इनका अभिषेक करे। "हिरण्य-वर्ण पवित्र करने वाले शुचि, और पाप का नाश करने वाले शान्ति, श्रीयुत मधुच्युत ये जल तुम लोगों की रक्षा करें" इस मन्त्र के द्वारा पवित्र किये हुए जल से शिला को स्नान कराकर स्थापति गंधयुक्त मांगलिक पदार्थ तथा शीतल चन्दन से पूर्ण सुगन्धि को उसमें मिलाकर लेप करना चाहिए। पहले शिला को लावों पुष्प-मालाओं से ढककर और धूप, मालाओं, उपहारों, दधि, मांस और अक्षत आदि से तथा पुष्पकल वस्त्र के जोड़ों से इष्टिका देवी की पूजा करनी चाहिए। शिला निवेशन के बाद नेत्रर्ऋत्य दिशा में सम संख्या वाले (चार, आठ, बारह, सोलह) पवित्र विद्वान् ब्राह्मणों का दक्षिण-फलों से पूजा करें, अनन्तर कर्त्ता द्वारा ओंकार स्वस्तिक मांगलिक गीत तथा वाजा आदि से रोमांचित होकर उन लागों को प्रणाम करना चाहिए।[2]

इन शिलाओं के लिए बलि का भी विधान आलोच्य ग्रन्थ में हुआ है वहाँ निंदिष्ट है कि वास्तोष्पति तथा भूतों को बलि देने के बाद उन चारों शिलाओं की अन्य चार उपशिलाएँ निवेशित करनी चाहिए, जो इस प्रकार कही गई हैं :- प्राकार तथा स्वस्तिक अंकित दो, तीसरी श्रीवत्स लक्षण और चौथी नन्द्यावती शिलाएँ बताई गई हैं, पूर्व और दक्षिण के करण में वास्तु के अधः प्रदेश में नन्दा शिला को स्थापित करे तथा भद्रा आदि शिलाओं तथा अन्य शिलाओं को दूसरे तीनों कोनों में स्थापित करे।

---

1. नन्दाभद्राजयापूर्णाश्चतस्त्र स्युरिमाः शिलाः। वासिष्ठ काश्यपी तद्वद् भार्गव्याङ्गिरसीतिः ता।।
तत्र प्रागुत्तरे देशे संनिवेशस्य वास्तुनः।
आग्नेय्यानादितो नन्दां स्थापयेत् क्रमशः शिलाम्। अकालमूलेख्यङ्गै सपओत्पलपल्लवैः।।
नैर्ऋत्यां वा सकृसुमां समां गोचर्मसम्मिताम्। वेदीं सगन्धकलशं चतुरश्रां प्रकल्पयेत।।
तीर्थप्रस्त्रवणाभोभिः सरत्राक्षतपङ्कजेः। सुगन्धिभिः सपुव्याहमभिषेकं प्रयोजयेत्।।
सर्वोषधिहिरण्याद्यै हैमराजतमृन्यैः। कुम्भैस्ताम्रयैश्चापि मन्त्रैस्ताभिषेचयेत्।।
जाह्नवीयमुनारेवासरस्वत्यादिसम्भवैः (वम्)। महानवीजलं शस्तं शुभतीर्थभवं तथा।।
तथाद्रिवनवेशन्तदेवायतनतजानि च। अभिषेकार्थमम्भांसि शुभतीर्थभवं तथा।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-11-18
2. मन्त्रेणानेन चैतासामभिषेकं समाचरेत। हिरण्यवर्णाः पावन्यः शुचयो दुरितच्छिदः।।
पुनन्तु शान्ताःश्रीमत्य आपो युष्यान्मधुच्युतः। मन्त्रपूतेन पयसा स्नापयित्वा ततः शिलाम्।।
स्थपतिर्गन्धकल्केन मङ्गल्येनानु लेपयेत्। हिमचन्दन पूर्णेन व्यवकीर्य सुगन्धिना।।
तरसा छादयेदनां सलाजैः पुष्पदामभिः। धूपमाल्योपहारैश्च दधिमांसाक्षतदिभिः।।
पूजयेदिष्कां देवी वस्त्रयुग्मेश्च पुष्कलैः। निवेशनान्ते नैर्ऋत्यां तदा विप्रानवस्थितान्।।
ओङ्कारस्वस्तिपुण्याहगीतादित्रनिस्वनैः। कर्त्ता जनितरोमञ्चस्तेभ्यः कुर्यान्नमस्क्रियाम्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-19 से 24

स्वस्तिवाचक मन्त्रों से उन हिरण्यवर्ण वाली शिलाओं का शिलान्यास करते हुए ऋषियों ने उन चारों के प्रतिष्ठा-मन्त्र शाश्वत एवं आरम्भ दर्शन करने वाले इन चारों मन्त्रों में कहा गया है कि "आदिवराह के वीर्य से, वेदार्थी से अभिमंत्रित वसिष्ठ-नंदिनी नन्दा को में पूर्व में स्थापित करता हूँ, तथा सुमुहूर्त दिवस में निवेशित हे नन्दे। स्वामी की दीर्घ आयु और श्रीवृद्धि करो। हे सर्वतोभद्र भद्रे। तुम कल्याणदायिनी हो, अतः कल्याण करो। काश्मप की प्रिय सुते। गृह को बनाने वाले की लक्ष्मी वृद्धि करो। हे जये! इस महात्मा गृहस्वामी की विजय करो! हे सम्पूर्ण चन्द्रकान्ति वाली! वास्तु के अधः प्रदेश में तुम्हारे न्यस्त होने पर इस यजमान का भूमि पर चन्द्र और सूर्य पर्यन्त यश बढ़े। हे पूर्णे! यह गृहस्वामी पूर्ण-मनोरथ होवे"।[1]

स्वस्तिक वाचक मन्त्रों के उच्चारण के बाद उन हिरण्यवर्ण शिलाओं से समुद्भूत पूर्व और उत्तर में प्लवन शुभ माना गया है, पश्चिम और दक्षिण में नहीं। ग्रन्थकार का कथन है कि नन्दादि शिलाओं तथा इष्टिकाओं को पुरोहित में, भवन में, प्राकार में और पूर-कर्म में, वितान में, चित्ति विन्यास अर्थात् यज्ञवेदियों में, ब्रह्मा के मन्दिर में, प्रतिमा की स्थापन में, शान्तिवेदियों में, और मूत की स्थापनाओं में तथा याज्ञिक विधान में स्थापित किया जाना चाहिए।[2]

छन्दों के आधार पर भी शिलाओं के चयन के विषय में बताते हुए राजा भोज का कथन है कि त्रैशोक, और्ण, आसय नामक महावृत साम मन्त्रों से तथा गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, वृहती-इन चार छन्दों से क्रमशः चारों शिलाओं का चयन करना होता है इसके बाद चतुर स्थपति को रुक जाना चाहिए।

इस प्रकार राजा भोज ने आलोच्य ग्रन्थ में शिलान्यास विधि के आदिकर्म के समाप्त करने के बाद कहा है कि उन शिलाओं को भूतल पर सुस्थित और बराबर प्रतिष्ठित चलाना नहीं चाहिए, क्योंकि चालन से गृहस्वामी के लिए बड़ा भय होता है और इनके कम्पन में भी बहुत भय समझना चाहिए, और इनकी स्थिरता में स्थपति और गृहस्वामी दोनों का बड़ा भारी मंगल कहा गया है। इसमें दिशाओं का वर्णन करते हुए उनका कथन है कि पूर्व और दक्षिण में चालन से गृह-स्वामी को बड़ा भय होता है, नैर्ऋत्य में भार्या का विनाश और वायव्य में भीति, ईशान, कोण में गुरु का भय वारूणी में भी वैसा ही। इसी प्रकार, पहले से स्थापित स्तम्भों/खम्भों को भी नहीं चलाना चाहिए और न उनको उठायें और न हिलायें क्योंकि इन दोनों की विधि समान कही गई है। इसलिए पहिले समाहित-चित्त स्थपति को, शिलाओं के समान स्तम्भों का भी विन्यास करना चाहिए।[3]

---

1. अन्याः क्रमेण भद्राद्याः कोणेष्वन्येषु च त्रिषु। प्रतिष्ठापनमन्त्राश्च तासां चतसृणामपि।।
तासां चतसृणामन्याः कुर्यादुपशिलाः पृथक्। प्राकारस्वस्तिकाङ्के द्वे तथा श्रीवतसलक्षणा।।
नन्द्यावर्तस्तु पूर्णामां भवेदेको (दङ्को) यथाक्रमम्। कर्णे प्राग्दक्षिणे नन्दां वास्तुन स्थापयेदधः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-26 से 28

2. वासिष्ठनन्दिनीं नन्दां प्राक् प्रतिष्ठापयाम्यहम्। सुमूहर्ते सुदिवसे सा त्व नन्दे निवेशिता।।
आयुः कारयितुर्दीर्घ नन्दा प्राक् प्रतिष्ठापयाम्यहमृ। सुमुहूर्ते सर्वतोभद्र भद्रे भद्रं विधीयत म्।।
आचन्द्रार्क यशश्चास्य भूम्यामिह विरोहतु। त्वयि सम्पूर्णचन्द्राभे न्यस्तायां वास्तुनस्तले।।
भवत्येष गृहस्वामी पूर्णे पूर्णमनोरथः। कश्यपस्य प्रियसूते श्रीरस्तु गृहमेधिनः।
जये विजयतां स्वामी गृहस्यास्य महात्मनः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 35वां, श्लोक-30 से 34

3. इष्टकाश्चैत्यभवनप्राकारपुरकर्मसु। विताने चितिविन्यासे चतुर्मुखनिकेतने।।
पुरोधाः शान्तिवेदीषु प्रतिमास्थापनेषु च। याज्ञिकेन विधानेन क्रमशैः स्थापयेच्छिला।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-36 से 37

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ में भवनों के निवेश हेतु वर्णत शिलान्यास की विधि-विधानों को ही देवप्रासाद निवेश के शिलान्यास में भी करने का निर्देश देते हुए ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार से शिलान्यास विधि का वर्णन किया है।

**द्वार :-** देवप्रासाद निवेश में सर्वप्रथम प्रासाद के द्वार एवं उनकी शाखाओं की रचना आवश्यक होती है। भारतीय स्थापत्य के मुकुटमणि द्वार एवं स्तम्भ है। देवप्रासाद निवेश की सर्वप्रथम रचना की दृष्टि से द्रव्यों के पारस्परिक उदय, विस्तार, बाहुल्य एवं परीधि के साथ-साथ प्रासाद के द्वार एवं उनकी विभिन्न शाखाओं की रचना आवश्यक होती है। आलोच्य ग्रन्थ में पेद्या, शाखा, पिण्ड, रूपशाखा, तुंगशाखा आदि द्वार शाखाओं का बड़ा ही विस्तृत वर्णन हुआ है। इसके बाद तलोदय उदम्बुर, कुम्भिका, भरण, पट्ट, जयन्ती, शीर्षक, फलक, तुला आदि सम्बोधन/विशेषण नाम भी द्वार से सम्बन्धित हैं। जद्यन्य वास्तु के द्वार का मान, (नाप) विस्तार, तल सहित ऊँचाई, द्रव्य, व्यास (घेरा) विधि इत्यादि बताते हुए कहा गया है कि जो आधारो से हीन देवप्रासाद आदि कहे गये हैं उनका गर्भवास के चौथे, तिकोने तथा चोकोर भाग द्वारा विभाजित करना चाहिए। इसके बाद उसके आधे भाग के द्वारा द्वार का अपना आधा विस्तार करना चाहिये और द्वार के पाद विस्तार से पेद्या का विस्तृत होता है, उसके आधे विस्तार से पिण्ड होता है और उसके समान भाग से घेरे के अनुसार शाखा होती है। शाखा विस्तार से रूपशाखा होती है एवं उसके आधे विस्तार से पेद्या पिण्ड की खल्वशाखा होती है। रूपशाखा से तात्पर्य किसी देवप्रतिमा अथवा मानव प्रतिमा की चित्रण विच्छति से है तथा खल्वशाखा किसी लता विच्छत्ति की विशेष रूप है।[1]

रूपशाखा के बराबर तुङ्गशाखा का विस्तार करें और तुङ्गशाखा के बाहरी भाग में विभिन्न शाखाएँ बनानी चाहिए, जो किसी भी प्रकार की हो सकें। उन सभी का आठ अंशो से अधिक विस्तार करना चाहिए और जिनकी संख्या लम्बाई चौड़ाई के योग से होती है। द्वारों के उच्च श्रेष्ठ एवं उनके गुणों का एवं मण्डपों में उच्छुव्ट तल से देवप्रासाद का सबसे छोटे तल से मान र्निमत करना चाहिए। छह भागों से अधिक ज्येष्ठ अष्ट अंशों से अधिक मध्य और बलविधि समान पद प्रासाद के होते हैं। कुम्भिका, भरण, पट्ट, जयन्ती, शीर्षक, फलकों इन में जो तुला नामक मान जो प्रमुख है उसको न अधिक करना चाहिए और न कम,[2] इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ के त्रेपनवें एवं

1. त्रैशोकौणत्सभासे (ख्यै) स्ताः सामभिः स महाव्रतैः। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्भिर्वृहत्या च यथाक्रमम।।
न चालयेच्चालने स्याद् गृहभर्तुर्महद् भयम्। कम्पने च भयं विद्यादेतासां स्थिरतां पुनः।।
स्थपतेर्गृहभर्तुश्च मङ्गल परमं विदुः। प्राग्दक्षिणायां चलने गृहभर्तुर्महद् भयम।।
भार्याविनाशो नैर्ऋत्या शून्यं भीतिर्मरुद्दिशि। गुरोश्च भयपैशान्यामपचारेऽपि तद् भवेत्।।
प्रथमं स्थापितेनै (ताने) वं स्तम्भानपि न चालयेत्। नोद्धरेत प्रणुद्याश्च विधिस्तुल्यो यतोऽनयोः।।
विन्यासं प्रथमं तस्मात् कुर्यात सम्यक् समाहितः। शिलानां स्थपतिस्तद्वत् स्तम्भानामपि सर्वथा।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-35, श्लोक-38, 41 से 45

2. इदानीमभिधास्यामः प्रासादानां यथाक्रमम्। द्रव्येषूदयविस्तारं बाहल्यं परिधिं तथा।।
ब्रूमो जद्यन्यवास्तूनां द्वारमानमतः परम्। विस्तारं सतलोच्छ्रयं द्रव्यव्यासविधि तथा।।
कथिता ये निराधाराः प्रासादास्तिर्यगायताः। तेषां भागचतुष्केण गर्भवासं विभाजयेत।।
द्वारं सर्धेन भागेन कुर्वीत स्वार्धविस्तृतम। द्वार विस्तारपदेनपेद्याया विस्तृतिर्भवेत्।।
विस्तारार्धेन पिण्डः स्यात् तत्समः स्यादुदुम्बरः। सार्घमूलादुम्बरकः शाखा व्यासवशाद् भवेत्।।
चतुर्विधश्च कर्त्तव्यः पेद्यापिण्डः प्रमाणतः। शाखा तु पेद्यापिण्डश्च (स्य) विस्तारेण विधीयते।।
शाखाविस्तारतो रूपशाखा स्यात् सार्धविस्तृतिः। तु अर्धेन पेद्यापिण्ऽस्य खल्वशाखा विधीयते।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-53, श्लोक-1-7

वावनवें अध्यायों में द्वारों की निर्माण विधियों का अति विस्तृत विवेचन हुआ है।

**भित्ति** – विधि के अन्तर्गत शिलान्यास विधि के बाद भित्ति निर्माण हेतु प्रयुक्त विधि विधानों का किसी पृथक अध्याय के अन्तर्गत वर्णन न करके देवप्रासाद के प्रकारों के साथ ही लक्षणों के वर्णन के उपरान्त प्रत्येक देवप्रासाद की पृथक प्रकार की भित्ति के निर्माण की बात की गई है। अर्थात् जिस प्रकार का देवप्रासाद है, उसकी भित्तियाँ भी उसी के अनुरूप र्निमत किए जाने के निर्देश दिए गए हैं।

**जगती–पीठ –**

जगती का वैसे तो अर्थ पीठ है। बिना पीठ अर्थात् आधार के भवन की स्थापना हो ही नहीं सकती है, जिस प्रकार पुरुषों के अङ्गों में प्रथम अङ्ग चरण अथवा पाद है, उसी प्रकार देवप्रासाद पुरुष का कलेवर जगती के अधीन है परन्तु आलोच्य ग्रन्थ में जगती एक विशिष्ट स्थान रखती है क्यों उसमें जगती को देवप्रासादों के रूप में विभाजित किया गया है। जिस प्रकार शिवलिंग की मूॅत के लिए पीठिका अनिवार्य है उसी प्रकार देवप्रासाद के निर्माण में जगती पीठिका अनिवार्य है।[1]

जिस प्रकार किसी प्रतिमा के लिए पीठिका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, उसी प्रकार देवप्रासाद के लिए जगती भी अनिवार्य है। जगती निवेश देवप्रासाद निवेश का एक ही छोटा सा अंश रूप है। आकृति, मान, उन्मान और संस्थान में वह देवप्रासाद के ही समान है परन्तु इसकी चौड़ाई विशिष्टय है। यदि देवप्रासाद की चौड़ाई आठ पद है तो जगती की अट्ठाईस अथवा बत्तीस होगी। जगती–वास्तु की एक विशेषता यह है कि जगती पर शिलान्यास भी विहित है उनके छः वर्ग हैं जिनका आधार उन शालाओं की स्थिति है, यह छः वर्ग इस प्रकार से है :– कर्णोद्भवा, भ्रमोच्छा, भद्रजा, गर्भसम्भवा, मध्यजा, पार्श्वजा। जैसे :– कर्ण पर कर्णजा, भम्र पर भ्रमोत्था, भद्र पर भद्रजा, मध्य पर मध्यजा, पार्श्व पर पार्श्वजा और गर्भ पर गर्भजा।[2]

देवप्रासाद के अनुरूप पाँच प्रकार की जगती का वर्णन हुआ है– चतुरस्र (चौरस) आयत (लम्बा चौरस) अष्टास्र (अठकोनी) वृत्त (गोल) और वृत्तायत (लम्बा गोल जिसका एक सिरा गोल और दूसरा आयत होता है) इसे ही वेसर कहते हैं।

**1. चतुरस्र जगती के प्रकार** – चतुरस्र जगती के 39 प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है यथा– वसुधा, वसुधारा, वहन्ती, श्रीधरी, भद्रिका, एकभद्र, द्विभ्रद्रिका, त्रिभद्रिका, भद्रमाला, वैमानी, भम्ररावली, स्वस्तिका, हरमाला, कुलशील, महीधरी, मन्दारमालिका, अनंगलेखा, उत्त्सवमालिका, नागारम्भा, मकरध्वजा, मारभव्या, नन्द्यावर्ता, भूपाला, परिजातकमञ्जरी, चुड़ामणिप्रभा, श्रवणमंजरी, विश्वरूपा,

---

1. रूपशाखासमा कार्या विसताररात् तुङ्गशाखिकाः। तुङ्गाया ब्राह्यतः शाखाः क्रियते यास्तु काश्चन।।
अष्टांशाभ्याधिकः सर्वाः कर्त्तव्या विस्तरेण ताः। द्वारस्यायामविस्तार योगात् सङ्खया भवेत तु या।।
द्वारोच्छ्रित तद्गुणानां मण्डपे स्यात् तलोच्छ्रतिः। प्रासादेषु कनीयस्सु तलमानमुदाहतम।
षड्भागाभ्यधिकं ज्येष्ठे मध्येऽष्टांशाधिकं ततः। बलविधिः समपदः प्रासादस्य विधीयते।।
कुम्भिकाभरणपट्टजयन्तीशीर्षकायफलकेषु तुला नाम। उक्त (मान) मिह यत् प्रथमं तन्नाधिक प्रावेदधीत न हीनम्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–53, श्लोक–8–12

क. प्रासादं लिङ्गमित्याहु (स्त्रिग?) ल्लनाद् यतः।।
ततस्तदाधारतया जगती पीठिका मता। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–68, श्लोक–4

2. गर्भजा मध्यजा चेंति कर्णजायस (त) सम्मिते। पार्श्वजा भ्रमजायासा (मा) स्थानं तासामथोच्यते।।
कर्णेषु कर्णजा ख्याता भ्रमजा च परिभ्रमे। भद्रेषु भद्रजा ज्ञेया त्रयमध्ये च गर्भजा।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–68, श्लोक–21–22

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ में भवनों के निवेश हेतु वंणत शिलान्यास की विधि–विधानों को ही देवप्रासाद निवेश के शिलान्यास में भी करने का निर्देश देते हुए ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार से शिलान्यास विधि का वर्णन किया है।

**द्वार :–** देवप्रासाद निवेश में सर्वप्रथम प्रासाद के द्वार एवं उनकी शाखाओं की रचना आवश्यक होती है। भारतीय स्थापत्य के मुकुटमणि द्वार एवं स्तम्भ है। देवप्रासाद निवेश की सर्वप्रथम रचना की दृष्टि से द्रव्यों के पारस्परिक उदय, विस्तार, बाहुल्य एवं परीधि के साथ–साथ प्रासाद के द्वार एवं उनकी विभिन्न शाखाओं की रचना आवश्यक होती है। आलोच्य ग्रन्थ में पेद्या, शाखा, पिण्ड, रूपशाखा, तुंगशाखा आदि द्वार शाखाओं का बड़ा ही विस्तृत वर्णन हुआ है। इसके बाद तलोदय उदम्बुर, कुम्भिका, भ्रण, पट्ट, जयन्ती, शीर्षक, फलक, तुला आदि सम्बोधन/विशेषण नाम भी द्वार से सम्बन्धित हैं। जघन्य वास्तु के द्वार का मान, (नाप) विस्तार, तल सहित ऊँचाई, द्रव्य, व्यास (घेरा) विधि इत्यादि बताते हुए कहा गया है कि जो आधारो से हीन देवप्रासाद आदि कहे गये हैं उनका गर्भवास के चौथे, तिकोने तथा चोकोर भाग द्वारा विभाजित करना चाहिए। इसके बाद उसके आधे भाग के द्वारा द्वार का अपना आधा विस्तार करना चाहिये और द्वार के पाद विस्तार से पेद्या का विस्तृत होता है, उसके आधे विस्तार से पिण्ड होता है और उसके समान भाग से घेरे के अनुसार शाखा होती है। शाखा विस्तार से रूपशाखा होती है एवं उसके आधे विस्तार से पेद्या पिण्ड की खल्वशाखा होती है। रूपशाखा से तात्पर्य किसी देवप्रतिमा अथवा मानव प्रतिमा की चित्रण विच्छति से है तथा खल्वशाखा किसी लता विच्छत्ति की विशेष रूप है।[1]

रूपशाखा के बराबर तुङ्गशाखा का विस्तार करें और तुङ्गशाखा के बाहरी भाग में विभिन्न शाखाएँ बनानी चाहिए, जो किसी भी प्रकार की हो सकें। उन सभी का आठ अंशो से अधिक विस्तार करना चाहिए और जिनकी संख्या लम्बाई चौड़ाई के योग से होती है। द्वारों के उच्च श्रेष्ठ एवं उनके गुणों का एवं मण्डपों में उच्छुव्ट तल से देवप्रासाद का सबसे छोटे तल से मान र्निमत करना चाहिए। छह भागों से अधिक ज्येष्ठ अष्ट अंशों से अधिक मध्य और बलविधि समान पद प्रासाद के होते हैं। कुम्भिका, भरण, पट्ट, जयन्ती, शीर्षक, फलकों इन में जो तुला नामक मान जो प्रमुख है उसको न अधिक करना चाहिए और न कम,[2] इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ के त्रेपनवें एवं

1. त्रैशोकौणत्सभासै (ख्यै) स्ताः सामभिः स महाव्रतैः। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्भिर्वृहत्या च यथाक्रमम।।
न चालयेच्चालने स्याद् गृहभर्तुर्महद् भयम्। कम्पने च भयं विद्यादेतासां स्थिरतां पुनः।।
स्थपतेर्गृहभर्तुश्च मङ्गल परमं विदुः। प्राग्दक्षिणायां चलने गृहभर्तुर्महद् भयम।।
भार्याविनाशो नैर्ऋत्या शून्यं भीतिर्मरुद्दिशि। गुरोश्च भयपैशान्यामपचारेऽपि तद् भवेत्।।
प्रथमं स्थापितेनै (ताने) वं स्तम्भानपि न चालयेत्। नोद्धरेत प्रणुद्याश्च विधिस्तुल्यो यतोऽनयोः।।
विन्यासं प्रथमं तस्मात् कुर्यात सम्यक् समाहितः। शिलानां स्थपतिस्तद्वत् स्तम्भानामपि सर्वथा।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–35, श्लोक–38, 41 से 45

2. इदानीमभिधास्यामः प्रासादानां यथाक्रमम्। द्रव्येषूदयविस्तारं बाहल्यं परिधिं तथा।।
ब्रूमो जघन्यवास्तूनां द्वारमानमतः परम्। विस्तारं सतलोच्छ्रायं द्रव्यव्यासविधि तथा।।
कथिता ये निराधाराः प्रासादास्तिर्यगायताः। तेषां भागचतुष्केण गर्भवासं विभाजयेत।।
द्वारं सर्धेन भागेन कुर्वीत स्वार्धविस्तृतम। द्वार विस्तारपदेनपेद्याया विस्तृतिर्भवेत्।।
विस्तारार्धेन पिण्डः स्यात् तत्समः स्यादुदुम्बरः। सार्घमूलादुम्बरकः शाखा व्यासवशाद् भवेत्।।
चतुर्विधश्च कर्त्तव्यः पेद्यापिण्डः प्रमाणतः। शाखा तु पेद्यापिण्डश्च (स्य) विस्तारेण विधीयते।।
शाखाविस्तारतो रूपशाखा स्यात् सार्धविस्तृतिः। तु अर्धेन पेद्यापिण्ऽस्य खल्वशाखा विधीयते।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–53, श्लोक–1–7

वावनवें अध्यायों में द्वारों की निर्माण विधियों का अति विस्तृत विवेचन हुआ है।

**भित्ति** – विधि के अन्तर्गत शिलान्यास विधि के बाद भित्ति निर्माण हेतु प्रयुक्त विधि विधानों का किसी पृथक अध्याय के अन्तर्गत वर्णन न करके देवप्रासाद के प्रकारों के साथ ही लक्षणों के वर्णन के उपरान्त प्रत्येक देवप्रासाद की पृथक प्रकार की भित्ति के निर्माण की बात की गई है। अर्थात् जिस प्रकार का देवप्रासाद है, उसकी भित्तियाँ भी उसी के अनुरूप र्निमत किए जाने के निर्देश दिए गए हैं।

**जगती–पीठ –**

जगती का वैसे तो अर्थ पीठ है। बिना पीठ अर्थात् आधार के भवन की स्थापना हो ही नहीं सकती है, जिस प्रकार पुरुषों के अङ्गों में प्रथम अङ्ग चरण अथवा पाद है, उसी प्रकार देवप्रासाद पुरुष का कलेवर जगती के अधीन है परन्तु आलोच्य ग्रन्थ में जगती एक विशिष्ट स्थान रखती है क्यों उसमें जगती को देवप्रासादों के रूप में विभाजित किया गया है। जिस प्रकार शिवलिंग की मूंत के लिए पीठिका अनिवार्य है उसी प्रकार देवप्रासाद के निर्माण में जगती पीठिका अनिवार्य है।[1]

जिस प्रकार किसी प्रतिमा के लिए पीठिका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, उसी प्रकार देवप्रासाद के लिए जगती भी अनिवार्य है। जगती निवेश देवप्रासाद निवेश का एक ही छोटा सा अंश रूप है। आकृति, मान, उन्मान और संस्थान में वह देवप्रासाद के ही समान है परन्तु इसकी चौड़ाई विशिष्टय है। यदि देवप्रासाद की चौड़ाई आठ पद है तो जगती की अट्ठाईस अथवा बत्तीस होगी। जगती–वास्तु की एक विशेषता यह है कि जगती पर शिलान्यास भी विहित है उनके छः वर्ग हैं जिनका आधार उन शालाओं की स्थिति है, यह छः वर्ग इस प्रकार से है :– कर्णोद्भवा, भ्रमोच्छा, भद्रजा, गर्भसम्भवा, मध्यजा, पार्श्वजा। जैसे :– कर्ण पर कर्णजा, भम्र पर भ्रमोत्था, भद्र पर भद्रजा, मध्य पर मध्यजा, पार्श्व पर पार्श्वजा और गर्भ पर गर्भजा।[2]

देवप्रासाद के अनुरूप पाँच प्रकार की जगती का वर्णन हुआ है– चतुरस्र (चौरस) आयत (लम्बा चौरस) अष्टास्र (अठकोनी) वृत्त (गोल) और वृत्तायत (लम्बा गोल जिसका एक सिरा गोल और दूसरा आयत होता है) इसे ही वेसर कहते हैं।

**1. चतुरस्र जगती के प्रकार** – चतुरस्र जगती के 39 प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है यथा– वसुधा, वसुधारा, वहन्ती, श्रीधरी, भद्रिका, एकभद्र, द्विभ्रद्रिका, त्रिभद्रिका, भद्रमाला, वैमानी, भम्रावली, स्वस्तिका, हरमाला, कुलशील, महीधरी, मन्दारमालिका, अनंगलेखा, उत्त्सवमालिका, नागारम्भा, मकरध्वजा, मारभव्या, नन्द्यावर्ता, भूपाला, परिजातकमञ्जरी, चुड़ामणिप्रभा, श्रवणमंजरी, विश्वरूपा,

---

1. रूपशाखासमा कार्या विसताररात् तुङ्गशाखिकाः। तुङ्गाया ब्राह्यतः शाखाः क्रियते यास्तु काश्चन।।
अष्टांशाभ्याधिकः सर्वाः कर्त्तव्या विस्तरेण ताः। द्वारस्यायामविस्तार योगात् सङ्खया भवेत तु या।।
द्वारोच्छ्रित तद्गुणानां मण्डपे स्यात् तलोच्छ्रतिः। प्रासादेषु कनीयस्सु तलमानमुदाहतम।
षड्भागाभ्यधिकं ज्येष्ठे मध्येऽष्टांशाधिकं ततः। बलविधिः समपदः प्रासादस्य विधीयते।।
कुम्भिकाभरणपट्टजयन्तीशीर्षकायफलकेषु तुला नाम। उक्त (मान) मिह यत् प्रथमं तन्नाधिक प्रावेदधीत न हीनम्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–53, श्लोक–8–12

क. प्रासादं लिङ्गमित्याहु (स्त्रिग?) ल्लनाद् यतः।।
ततस्तदाधारतया जगती पीठिका मता। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–68, श्लोक–4

2. गर्भजा मध्यजा चेंति कर्णजायस (त) सम्मिते। पार्श्वजा भ्रमजायासा (मा) स्थानं तासामथोच्यते।।
कर्णेषु कर्णजा ख्याता भ्रमजा च परिभ्रमे। भद्रेषु भद्रजा ज्ञेया त्रयमध्ये च गर्भजा।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–68, श्लोक–21–22

आदिकमला, त्रैलोक्यसुन्दरी, वज्जपकुमार, गन्धर्वनगरी, अमरावती, रत्नाधूमा, त्रिदशेन्द्रसभा, देवयन्त्रिका।[1]

**2. आयत जगती के प्रकार** – आयत जगती इस प्रकार है :- यमला, पयोधरा (अम्बुधरा), नेत्रा, दीर्दण्डा, अखंडला, सित्ता।[2]

**3. अष्टास्त्राकार जगती** – मातृका, शेखर, पद्मगर्भा, अंशुमती, कमला।

**4. वृत्ताकार जगती के प्रकार** – वलया, कलशा, करवीरा, नलिनी, पुण्डरीका, अत्तलपत्रा, चक्रवाला, चन्द्रमण्डला।

**5. वृत्तायताकार जगती** – वृत्तायतकार जगती चार प्रकार की बताई गई है :- मातु लिङ्गी, घटी, अयमती, कालिङ्गी।

**पीठ** – पीठ विवेचन के अन्तर्गत पाँच प्रकार के पीठ बताये गये हैं, जिनमें अति उत्तम प्रथम पीठ पादबन्धन नामक कहा गया है जो द्वितीय पीठ श्री बन्ध नाम से अभिहित है, तृतीय पीठ वेदिवन्धन नामक, चतुर्थ प्रतिक्रम नामक एवं पञ्चम क्षुरकबन्धन नामक कहे गये हैं।[3] महाराजा भोज ने यह पाँच प्रकार के पीठ विभिन्न देवप्रासादों में विभिन्न मूतयों की स्थापना हेतु कहे हैं। आलोच्य ग्रन्थ के 61वें अध्याय में 65 श्लोकों में पीठ विषयक विस्तृत विवरण दिया गया है। परन्तु ग्रन्थ विस्तार भय से यहाँ संक्षेप में मात्र नामों का ही उल्लेख किया गया हैं।

इसी प्रकार समराङ्गण सूत्रधार के 68वें एवं 69वें दो अध्यायों में जगती विषयक विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। "जगत्यङ्गसमुदायधिकार" नामक 69वें अध्याय में जगती के लक्षण प्रकार इत्यादि के विषय में बताने से पूर्व जगती की महत्ता का गान करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि नगर की सजावट हेतु पुरुषों की मुक्ति भुक्ति हेतु, सब कालों की शान्ति हेतु, देवताओ के निवास हेतु, चारों वर्णों की सिद्धि हेतु, मनस्वियों की कीत हेतु एवं लोगों की आयु एवं यश की प्राप्ति हेतु अब में जगत्तियों के लक्षण विस्तार से बतलाता हूँ से स्पष्ट है कि देवप्रासाद निर्माण में जगती का अत्यन्त महत्त्व है जिसके बिना देवप्रासाद की कल्पना करना भी व्यर्थ है।[4]

**पीठ एवं जगती में अन्तर** – पीठ तथा जगती में स्पष्ट अन्तर बताया गया है। यह अन्तर आकृति तथा मान विस्तार, आयाम तथा उच्छाम, अंग एवं प्रत्यंग तथा उनके भूषा–विन्यास से भद्र

1. वसुधा वसुधारा (च) वहन्ती च तथापरे। श्रीधरा भद्रिका चैव एकभद्रा द्विभद्रिका।।
   त्रिभद्रिका भद्रमाला वैमानी भ्रमरावली। स्वस्तिका हरमाला च कुलशीला महीधरी।।
   मन्दारमालिकानङ्कलेखाछोतसवमालिका। नागारामा मारभव्या तथा च मकरध्वजा।।
   नन्द्यावर्ता (नं?) च भूपाला पारिजातकमञ्जरी। चूड़ार्मणिप्रया चैव तथा श्रवणमञ्जरी।।
   विश्वरूपादिकमला तथान्या सिंहपञ्जरा। गन्धर्ववालिका चान्या विद्याधरकुमारिका।।
   सुभद्रा च समाख्याता तथान्या सिंहपञ्जरा। (वज्जपकुखाद्याः?) गन्धर्वनगरी तथा।।
   तथामरावती ज्ञेया रत्रधूमा च नामतः। त्रिदशेन्द्रसभा चैव तथान्या देवयन्निका।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–69, श्लोक–1–7
2. चत्वारिशद्वि (द्वि) तीयं स्यादेकोना नामसंख्यया।
   (यमलाम्बर्धराः नेत्रा र्दधुडाः खण्डिला सिता?)।।समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–69, श्लोक–8
3. पीठमाद्यं भवेत तेषु पादबन्धनमुत्तमम्। स्त्री (श्री) बन्धाख्यं द्वितीयं वेदिबन्धनम्।।
   प्रतिक्रममिति प्रोक्तं चतुर्थ पीठमुत्तमम्। पञ्चमं पीठमुद्दिष्टं नाम्रा क्षुरकबन्धनम्र।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–61, श्लोक–3–4
4. त्रिदशागारभूत्यर्थ भूषाहेतोः पुरस्य तु। भुक्तये मुक्तये पुंसां सर्वकाले च शान्तये।।
   निवासहेतोर्देवानां चतुर्वर्गस्या (हे?) सिद्धये। मनस्विनां च कीर्त्यायुर्यशस्सम्प्राप्तये नृणाम्।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–68, श्लोक–1–2

विन्यास तथा निर्माण की दृष्टि से भी जगती तथा पीठिका में अन्तर है। शालान्तर के निवेश अर्थात् जगती पर शालाओं के निवेश की दृष्टि से तथा उनके द्वार, सोपान, तोरण आदि के निवेश से भी अन्तर है। इन जगतियों पर देवतायतनों की स्थापना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जगती पीठ विशिष्ट है। आलोच्य ग्रन्थ में जगती पीठ से विशिष्ट है जिसका अर्थ जगती पीठ नहीं बल्कि जगती का पीठ से है।[1]

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ के दो अध्यायों (68वें एवं 69वें) में से जगती विषयक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक सामग्री को यथोचित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है क्योंकि महाराजा भोज ने एतद् विषयक सामग्री को बड़े ही विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है।

**मण्डप** – मण्डप विन्यास की सर्वप्रमुख विशेषता स्तम्भ निवेश एवं स्तम्भों की नाना चित्रांलकृतियों विशेष से है। नाना आकार नाना विच्छित्तियाँ मण्डप स्तम्भों का वैशिष्टय है। आलोच्य ग्रन्थ में मण्डपों के दो वर्ग हैं संवृत तथा विवृत। संवृत का तात्पर्य देवप्रासाद संयुक्त से है तथा विवृत का तात्पर्य पृथक निवेश अर्थात्, व्यतिरिक्त। विभिन्न देवी देवताओं के मन्दिरों के संवृत तथा विवृत नाम के मण्डपों का निर्माण शतपद वास्तु में करना चाहिये। मान एवं संस्था के अनुसार मण्डप ज्येष्ठ, मध्यम, तथा कनिष्ठ प्रभेद से प्रविभाजित हैं।

समराङ्गण सूत्रधार के 66वें अध्याय में आठ प्रकार के मण्डपों का वर्णन इस प्रकार हुआ है :- 1. भद्र 2. नन्दन 3. महेन्द्र 4. वर्धमान 6. स्वस्तिक 7. सर्वतोभद्र 8. गृहराज।[2] "नन्दन मण्डप" का लक्षण इस प्रकार से है चार क्षेत्र में विभाजित, भद्र मण्डप से छः भाग से हो तथा जिसका आयाम चार भाग का हो, जिसका भाग करके स्तम्भ निश्चित जगह स्थापित किया हो, उस मण्डप को "नन्दन मण्डप" कहते हैं। समराङ्गण सूत्रधार के 67वें अध्याय में 27 प्रकार के मण्डपों का वर्णन हुआ है यह 27 प्रकार के मण्डप देवप्रासाद से दिगुणें तथा कनिष्ठ मण्डप हैं। 27 प्रकार के मण्डप इस प्रकार से है यथा — पुष्पक, पुष्पभद्र, सव्रत, अमृतनंदन, कौशल्य, बुद्धि-संकीर्ण, गजभद्र, जयावह, श्रीवत्स, विजय, वस्तुकीर्ण, श्रुतिर्जय, यज्ञभद्रो, विशाल, सुश्लिष्ट, शत्रुमर्दन, भगमच, दम, मानव, मानभद्रक, सुग्रीव, हर्ष, र्कणकार, पर्दाधक, सिंह, श्यामभद्र, सुभद्र। मण्डपों एवं देवप्रासादों का सन्निवेश प्रायः एक सा ही है।[3]

मण्डपों एवं देवप्रासादों का कोई विशेष अन्तर नहीं है। जो देवप्रासाद के नाम होते हैं वही मण्डपों के नाम भी होते हैं। वास्तु भेद से भी मण्डप अलग होते हैं। इन मण्डपों का निर्माण भिन्न-भिन्न प्रयोजनवश किया जाता है। जैसे यज्ञार्थ, यतियों के आश्रामार्थ, देवताओं के पाकशाला के लिए, यात्रियों के विश्राम करने के लिए और राजाओं के विहारार्थ के लिए भी मण्डपों का निर्माण होता था। देवदर्शन के लिए दर्शकों को पहले मण्डपों से ही गुजरना पड़ता है। मण्डप वास्तव में

---

1. ततस्तदाधारतया जगती पीठिका मता। आकार विस्तृतायामानुच्छ्रायं (ते क्रिया?)
बिना तमङ्गप्रत्यङ्गा कल्पना नापि + क्रमम। विभक्तिं तिलकन्दानां भद्रविस्तारनिर्गमम्।।
मूलशालो (ला) परिच्छित्तिं परिक्रमविनिर्गमम्। सञ्चयद्वारसोपानमुण्डिकामण्डसम्भवा(न?)।।
द्विज्यादिदेवताधिष्ण्याज्जगतीस्तोरणानिच। युक्तानि लक्षणैः सर्वेर्यथावत् सम्प्रचक्ष्महै।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-68, श्लोक-4, 5, 8, 9

2. मण्डपास्तेषु भद्र स्यान्नन्दनाख्यस्तथापरः।
महेन्द्रो वर्धमानश्च स्वस्तिकः सर्वभद्रक।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-66, श्लोक-

3. चतुरश्रीकृते क्षेत्रे नन्दन प्रविभाजयेत।। भद्र षऽभागमायाश्चतुर्भागं तथा (पव?)।
भागभागं निष्क्रान्ते स्तम्भैः प्राग्ग्रीवकल्पितै।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय66वां, श्लोक 40

देवप्रासाद से भी प्राचीन है, इसका विकास वैदिक काल से ही हुआ है।

**गर्भगृह** – गर्भगृह देवप्रासाद का वह कक्ष है जो वर्गाकार योजना का छोटा सा साधारण कमरा होता है। इसमें केवल पुजारी ही प्रवेश करता है, अन्य उपासक एवं दर्शक प्रवेश द्वार से, मण्डप अन्तराल से दर्शन और पूजन करते हैं। गर्भगृह देवप्रासाद का हृदय और सर्वाधिक पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण अंग है।

गर्भगृह के विषय में कहा गया है कि गर्भगृह के बराबर दो भाग करके दीवार की तरफ के अर्धभाग के दस भाग करें, उनमें से दीवार के प्रथम भाग में पिशाच, दूसरे में राक्षस, तीसरे में दैत्य, चौथे में गंधर्व[1], पाँचवें में यक्ष, छठे में सूर्य, सातवें में चण्डिका, आठवें में विष्णु, नवें में ब्रह्मा और शिव को दसवें भाग में स्थापित करें। सभी देवताओं की स्थापना पञ्चम भाग में प्रशस्त मानी गई है।[2]

देवप्रासाद निवेश से सम्बद्ध लगभग अधिकांश अध्यायों में विभिन्न प्रकार के देवप्रासादों हेतु विभिन्न प्रकार के गर्भगृहों का निर्माण का निर्देश करने के साथ ही उनकी निर्माण विधि भी बताई गई है।

**शिखर** – हिन्दू देवप्रासाद में शिखर की रचना प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। शिखर से ही किसी देवप्रासाद की पहचान होती है। गर्भगृह के ऊपरी भाग को शिखर कहते है। यह गिरी की भांति होता है। शिखर ही देवप्रासाद के बाह्य भाग का मुख्य एवं अनिवार्य अङ्ग है। देवप्रासाद एक पर्वत की भांति है और शिखर उसकी समरचना है जो गर्भगृह को ढकती है।

शिखर को मञ्जरी भी कहा गया है मञ्जरी वृक्ष जगत के महाराज आम्र का पूंजीभूत प्रकर्ष है और वृक्षों के देवता बसन्त ऋतु का सबसे बड़ा उपहार है। जैसे बसन्त ऋतु में मञ्जरी महत्त्वपूर्ण होती है वैसे ही देवप्रासाद में शिखर महत्त्वपूर्ण होते है। आलोच्य ग्रन्थ के 56वें अध्याय में कहा गया है कि यह शिखर विधि आकारों से युक्त होते हैं, कुछ एक अण्ड से अलंकृत होते है, तो कुछ तीन अण्डों और कुछ पांच अण्डों से अलंकृत होते है। जैसे केसरी नामक देवप्रासाद पाँच अण्डों से युक्त होता हे और सर्वतोभद्र नव अण्डक से युक्त होता है, इसी तरह तेरह प्रकार के अण्डों से युक्त नन्दन देवप्रासाद होता है और सत्तरह प्रकार के अण्डों से युक्त नन्दिशाला, इसी प्रकार सभी देवप्रासादों के अलग-अलग अण्डों का वर्णन हुआ है। अण्ड को ही तिलक, शृंग और रथ कहा जाता है। जिस प्रकार मञ्जरी की हरी भरी 'बाली' होती है और उसमें अनेक मकरन्द होते हैं, उसी प्रकार शिखर में भी अनेक अण्ड होते है।[3]

इस प्रकार इस अध्याय में देवप्रासाद के विभिन्न अवयव के अन्तर्गत सर्वप्रथम शिलान्यास की

---

1. यानि प्रासादनामानि तानि स्युर्मण्डपेष्वपि।
   वास्तु भदेन भेदोऽयं मण्डपानां विधीयते।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 67वां, श्लोक 25
2. भक्ते प्रासादगभीर्द्ध दराधा पृष्ठभागतः।
   पिशाचरक्षोदनुजाः स्थाप्या गन्धर्वगृह्यकाः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 70वां, श्लोक 155
3. आदित्य चन्द्रिकाविष्णुब्रह्मेशानान्ता?) पदक्रमात्। गर्भे षऽभागभक्ते व त्यक्त्वैकं (पृथता शत?)।
   स्थापनं सर्वदेवाना पञ्चमंशो (मेंडरो) प्रशस्यते। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 70वां, श्लोक 156

क. शिखरैविधाकारैरेकेनाण्डेन भूषिताः।केचितदण्डत्रयोपेताः केचित पञ्चाण्डकान्बिताः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 56वां, श्लोक 3

विधि का विधान बताया गया है नींव खोदने के बाद कौन-सी शिला सर्वप्रथम रखनी चाहिए।[1] इसके बाद देवप्रासाद के द्वार एवं उनकी शाखाओं की रचना के विषय में विस्तृत से वर्णन करने के उपरान्त भित्तिर के विषय में बताया गया है। इसके बाद जगती तथा पीठ के विषय में विस्तार से वर्णन करने के उपरान्त इन दोनों में स्पष्ट अन्तर बताया गया है। तत्पश्चात् मण्डप के विषय में वर्णन किया गया है इन मण्डपों का निर्माण भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए किया जाता है मण्डप का वर्णन करने के उपरान्त गर्भगृह तथा शिखर पर भी प्रकाश डाला गया है।[2] देवप्रासाद में गर्भगृह तथा शिखर महत्त्वपूर्ण होते हैं क्योंकि बिना गर्भगृह तथा शिखर के देवप्रासाद की रचना नहीं की जा सकती।

---

1. आद्यः पञ्चाण्डकः कार्यः प्रासादः केसरीति यः।
   सर्वतोभद्रको यस्तु विधेयः स नवाण्ऽकः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 56वां, श्लोक 23
2. त्र्योदशाण्ऽकस्तु स्यान्नन्दनो ना भवेत।
   नन्दिशालस्तु यः प्रोक्त स स्यात् सप्तदशाण्ऽकः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय 56वां, श्लोक 24

पञ्चम अध्याय

# प्रतिमा निर्माण एवं स्थापना विधि

**व्युत्पत्ति** – देवप्रासाद में प्रतिमा महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि जब तक देवप्रासाद में प्रतिमा प्रतिष्ठित ना हो, तब तक वह देवप्रासाद नहीं कलाता है। प्रतिमा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में इस प्रकार दी गई है– (प्रतिमीयते, प्रतिमीयते, प्रति इ मा + अङ्ग टाप) मिट्टी पत्थर आदि की बनी हुई देवताओं की प्रतिमा अथवा आकृति। चित्र, तस्वीर, परछाई, एक अलंकार आदि। इसमें किसी मनुष्य, पदार्थ या व्यक्ति की रचना होती है। परन्तु "डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल" ने अपनी पुस्तक "प्रतिमा विज्ञान" में प्रतिमा का अर्थ इस प्रकार से दिया है– "प्रतिमा शब्द का धात्वर्थ तो देव विशेष, व्यक्ति विशेष, अथवा पदार्थ विशेष की प्रतिकृति, बिम्ब, प्रतिमा अथवा आकृत्ति–सभी का बोधक है।"[1]

प्रतिमा के मान, लक्षण तथा द्रव्य आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। सबसे पहले प्रतिमा के मान के विषय में बताया गया है उसक बाद प्रतिमा बनाने के लिए कौन–कौन से द्रव्य चाहिये, इसका विवेचन करने के उपरान्त प्रतिमा लक्षण के अन्तर्गत प्रतिमा के अङ्गों एवं उपाङ्गों का वर्णन करते हुए प्रतिमा के गुण तथा दोष का वर्णन हुआ है। शरीर के विभिन्न अवयवों के निर्माण के अन्तर्गत सर्वप्रथम सम्पूर्ण शरीर के लक्षण करने के बाद प्रतिमा की दृष्टि, फिर हस्त लक्षण तथा उसके बाद पाद लक्षण इत्यादि समस्त अवयवों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रतिमा मान पर प्रकाश डाला जा रहा है।

**मान योजना**– प्रतिमा निर्माण में मान एक अनिवार्य अङ्ग है मान के बिना प्रतिमा निर्माण नहीं हो सकता है। मान दो प्रकार का होता है। अंगुल मान तथा तालमान। इसमें भी दो उपवर्ग है, स्वाश्रय (इेवसनजम) तथा सहायक (तमसंजपअम) स्वाश्रय पद्धति के अनुसार परमाणुओं से रज निंमित होता है रज से रोम, रोमों से लिक्षा, लिक्षाओं से यूका, यूकाओं से यव और यवों से अंगुल निंमित होती है।[2] ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ नामक अंगुल होते है चौबीस अंगुल का "हस्त" बनता है।

अंगुल को मात्रा भी कहते हैं दो अंगुलों से गोलक या कला निंमित होती है और दो गोलकों से भाग बनता है और तीन अंगुलों को पर्व, चार अंगुलों को मृष्टि् पाँच अंगुलां को तल कहते हैं। कर–पाद छः अंगुलों का होता है। दिष्टि सात अंगुलों की आठ अंगुलों को तृणि होती है। नव से प्रादेश और दस से शायताल कहलाताा है। ग्यारह अंगुलों से गोकर्ण, बारह से वितस्ति और चौदह से पाद होता है।

इक्कीस अंगुलों की रत्नि, बैयासी अंगुलों का व्यास चौबीस अंगुलों की अरत्नि, छयासठ अंगुलों का चाप (नाड़ीयुग) तथा एक सौ छः अंगुलों को दण्ड कहा जाता हैं। तीन घनुष (चाप) का नल्व, एक सहस्र चाप का एक क्रोश, दो क्रोशों की एक गव्यूति, और चार गव्यूति का एक योजना मान वेदी बनती है।[3]

---

1. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, लेखक-स्वर्गीय द्वारका नाथ शर्मा तथा पण्डित तारिणीश झा, पृष्ठ-737. प्रतिमा विज्ञान, लेखक-डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, पृष्ठ-20.
2. परमाणु रजो रोम लिक्षा (प्ररिका?) यवोऽङ्गुलम्। क्रमशोऽष्टगुणा वृद्धिरेव (वं) मानाङ्गल भवेत।।
   द्वयङ्गलो गोलको ज्ञेयः कला वा ता प्रचक्षते। द्वे कले गोलकौ (बाहौ?) भागो मानेन तेन तु।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-75, श्लोक-2 से 3
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-9, श्लोक-40 से 47

देवप्रतिमा निर्माण हो या भवन निर्माण सब के लिए मान अनिवार्य है। मानधार की अनिवार्यता पर बल देते हुए समराङ्गणकार कहते हैं कि शास्त्रों के अनुसार मान से विरचित प्रतिमा ही पूजा के योग्य बनती है। प्रतिमा के समस्त अङ्ग तथा उपाङ्ग मान से ही निंमित हो सकते हैं।

**प्रतिमा द्रव्य** – मानव सभ्यता के अभ्युदय की कहानी के अनुरूप जिस प्रकार भवन निर्माण कला-वास्तु कला के निर्माण द्रव्यों में उत्तरोतर वृद्धि होती गयी, उसी प्रकार प्रतिमा निर्माण के पहले दो द्रव्य थे-दारू और मृतिका। वहाँ से कालान्तर में चौगुने हो गये। आलोच्य ग्रन्थ के प्रतिमा लक्षण नामक अध्याय में निम्नलिखित प्रतिमा द्रव्यों का उल्लेख हुआ है। यथाः सुवर्ण (सोना), रजत (चाँदी), ताम्र (तांबा), अश्मा (पाषाण-पत्थर), दारू (लकड़ी), लेप्य अर्थात् मृतिका तथा अन्य लेप्य जैसे मृतिका और ताण्डूल आदि तथा आलेख्य अर्थात् चित्र ये सब शक्ति के अनुसार विहित हैं।

सुवर्ण पृष्ठिदायक माना गया है, रजत कीर्त-वर्धन-कारी, ताम्र प्रजा-बृद्धि, कारक, शैलेय अर्थात् पाषाण भू-जयावह, काँस्य आयुषकारक और लेप्य तथा अलेख्य यह दोनों धन प्राप्ति कारक कहे गये है।[1] परन्तु आलोच्य ग्रन्थ में दो ही द्रव्यों-लेप्य तथा चित्र का ही विस्तृत वर्णन हुआ है।

**लेप्यजा द्रव्य** – आलोच्य ग्रन्थ में लेप्यजा द्रव्य से निंमित प्रतिमाओं के विषय में बताते हुए ग्रन्थकार ने तिहत्तरवें अध्याय में कहा है कि लेप्य अर्थात् मिट्टी की प्रतिमा बनाने के लिए वृक्ष के मूल भाग में, नदी के किनारे, झाड़ियों के मध्य की मिट्टी का लेप्य कर्म के लिए बुद्धिमान लोगों ने उपयुक्त माना है। श्वेत मिट्टी तथा कपिल वर्ण की स्निग्ध (चिकनी) मिट्टी से प्रतिमा निर्माण ब्राह्मण के लिए प्रशस्त मानी गई हैं।[2]

इसी तरह सभी प्रकार की मृतिकाओं में इन्द्रांशी नामक मृतिका ठीक मानी गई है परन्तु स्थूल पत्थरों को र्वाजत माना गया है शाल्मली, षक्कुभं, मधु नामक तीन प्रकार की मिट्टी शुभ फलों को देने वाली कही गई है।[3]

**चित्र प्रतिमा** – प्राचीन भारत में चित्रजा प्रतिमायों के अधिष्ठान पर, कुऽय और पात्र ही विशेष प्रसिद्ध थे। चित्रों के पट चित्र (च्पंदजपदहे व ि्बसवजी) कुऽय चित्र (डनतंस च्पंदजपदहे) और पात्र चित्र की परम्परा थी। कलश पात्रों पर आज भी गौरी गणेश की पूजा के अवसर पर हम इनके चित्र कलश पात्रों पर बनाते हैं।

समराङ्गणसूत्रधार के 71वें अध्याय में चित्र प्रतिमा का वर्णन किया गया है। चित्र को सब कलाओं का मुख कहा गया है। हाथों से जिनका विन्यास किया गया हो, जिन चित्रों के लक्षण करने में संशय नहीं है। ऐसे दिव्य मनुष्यों का चित्र बनाने पर उनका मुख भी दिव्य होना चाहिए। चित्र को साधारण अर्थ में पेंटिङ्ग समझा जाता है। चित्र के तीन भेद है चित्र, चित्रार्थ और चित्राभास। 'चित्र' का अर्थ पूरी प्रतिमा है। 'चित्रार्थ का अर्थ मुखमात्र और यह कटि (कमर) तक चित्र से सम्बन्धित है। जो वास्तव में "पेंटिङ्ग में परिगणित की जाती है, वह चित्राभास है। यह किसी भित्ति पट अथवा पट्ट पर चित्र्य

---

1. प्रजाविद्द्धिज (दं) ताम्र शैलेयं भूजयावह्म्।
आयुष्यं दावरच (खं) प्रव्य लेख्यचित्रे धनावहे।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-76, श्लोक-3

2. मृतिकानामिति क्षेत्राव्युक्तान्येतानि तत्त्वतः।।
वृक्षमूल नदीतीरं गुल्ममध्यं तथैव च। मृतिकानामिति क्षेत्राव्युक्तान्येतानि तत्त्वतः।।
तारा वर्णः सिताक्षौद्रसान्निभो गौर एव च। कपिलश्चोति ते स्निग्धाः शस्ता विप्रादिषु क्रमात्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-73, श्लोक-2, 3

3. (इन्द्रांशी) मृतिका ग्राह्य स्थूलपाषाणर्वजता।
शल्मलीश (मा) षककुभं (भ) मधुकत्रिफलोद्भवम्।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-73, श्लोक-4

होती है अर्थात् बनती है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने प्रतिमा द्रव्य के अन्तर्गत लेय्यज तथा चित्र प्रतिमा का वर्णन अपने इस ग्रन्थ में किया है।

**अङ्ग तथा उपाङ्ग** – प्रतिमा लक्षण नामक 76वें अध्याय में महाराजा भोज ने प्रतिमा लक्षण के अन्तर्गत प्रतिमा के निर्माण तथा उसके अङ्गों यथा श्रवण, नासिका ललाट, पाद आदि का उपाङ्गों एवं मान यानि नाप सहित सूक्ष्म विवेचन इस प्रकार किया है कि दोनों आँखें दो अंगुल के प्रमाण से होती हैं और उनका विस्तार आधा कहा गया है।[1] अक्षि-तारक आँख के तीन भाग से सुप्रतिष्ठितकरणीय है। इन दोनों आँखों के मध्य में ज्योति (आँख की ज्योति) तीन अंश से परिकल्प्य है। श्रवण यानि कान और नेत्र का मध्य भाग पाँच अंगुल का होता है और इसी का सम उत्सेध (ऊँचाई) से दिगुणायत होना चाहिए। कर्ण पिप्पली (पक्षे) एक अंगुल की ओर उसका विस्तार चार यव का होना चाहिए। पिप्पली और अघात के बीच को लकार संज्ञा दी गई है इसका आयाम आधे अंगुल और विस्तार पूरे एक अंगुल का होना चाहिए। पिप्पली और अघात के मध्य की गहराई चार यव की होनी चाहिए। पिप्पली के मूल पर श्रोत्र छिद्र होता है वह चार यव का होना चाहिए। जो पीयूषी गोलाकार बतायी गई है, इसको स्तुतिका की संज्ञा दी गई है इसका आयाम आधे अंगुल का तथा विस्तार दो यवों का होना चाहिए। लकार और आर्वत (परदा) के मध्य में उसको पीयूषी के नाम से पुकारते हैं। वह दो अंगुल के आयाम वाली और डेट अंगुल के विस्तार वाली होती है। कान की बाह्य रेखा आवर्त कहते हैं, वह छः अंगुल के प्रमाण से वक्र और वृत्तायत होती है।[2]

मूलांश अर्थात् श्रोत्र-मूलावकाश आधे अंगुल का बनाना चाहिए और मध्य में दो यव का। फिर आगे एक यव के प्रमाण के विस्तार से बनाना चाहिए। लकार और आवर्त का मध्य भाग को उद्घात कहते है। पीयूषी का अधोभाग तीन यव का होता है। ऊपर से गोलक से दो यव से युक्त कर्ण का विस्तार होता है। मध्य में दुगुना और नाल और मूल में छः यवों से, इन दोनों समुदायों के प्रमाण से आयामादि विहित हैं। इसी प्रकार अन्य भाग विहित है। पश्चिम नाल एक अंगुल के प्रमाण से तथा पूर्व नाल डेढ अंगुल के प्रमाण से बनाया जाता है, इसी तरह दो कमल नाल अर्थात् सुकोमल नाल दो कलाओं के परिणाह अर्थात् विस्तार से बनाना चाहिए। कान के भाग का इस प्रकार सम्यक वर्णनं करने पर आलोच्य ग्रन्थ में कहा गया है कि कान का प्रमाण न तो कम और न अधिक होना चाहिए। तब ही प्रतिमाकार को कौशल प्रशस्त माना जाता है, अन्यथा दूषित माना जाता है।[3]

"कान का विस्तार" से विवेचन करने के बाद चिबुक अर्थात् ठोढ़ी का वर्णन कहा हुआ है कि चिबुक दो अंगुल के आयाम से बनाया जाता है। उसके आधे से (अधरोष्ठ) कन्धर बताया गया है,

1. चिंत्ताहि सर्व शिल्पानां मुख लोकस्य च प्रियम।।
   हस्तामा यश्च विन्यासो (लक्षणर्मात्तसंशय?)। दिव्याना मनुषाणा च (दिव्या स मुख जन्मना?)।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-71, श्लोक-1, 4
2. पिप्पल्याघातयोर्मध्ये लकार इति संज्ञितः। स्याद (ध्य) र्धाङ्गुलायामो विस्तारेण च सोऽङ्गुलम्।।
   मध्ये लकारो निम्नः स्यान्मानाद् यवचुतुष्टयम्। मूले पिप्पलिकायाः स्याच्छ्रोत्तच्छिद्रं चतुर्यवम्।।
   या (गोलकारषीगूष्मो स्तुतिकेति?) प्रकीर्तिता। अर्धाङ्गुलायता सा स्याद् यवद्वितयविस्तृता।।
   लकारवर्तयोर्मध्ये पीयुषी सा प्रकीर्तितां अंगुलद्वितयामामा विस्तृता सार्थमंगुलम्।।
   कर्णस्य बाह्या रेखा या तामावर्त प्रचक्षते। षड्गुलप्रमाण स्याद् वक्रो वृत्तायतश्च सः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-76, श्लोक-15 से 19
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-76, श्लोक-16 से 21

फिर उसके आधे से उत्तरोष्ठ होता है और भाजी (नाक तथा ओष्ठ के बीच वाला भाग) आधे अंगुल की ऊँचाई से बनायी जाती है। होंठों के चतुर्थ भाग से दोनों नासा-पुट बनाने चाहिए। उसके दोनों प्रान्त करवीर के समान सुन्दर बनाने चाहिए। चार अंगुल के प्रमाण से नासिका होती है। नासिका पुट का प्रान्त का अग्र भाग दो अंगुल से विस्तृत होता है।[1] तत्पश्चात् ललाट का लक्षण किया गया है।

आठ अंगुल के विस्तार से तथा चार अंगुल के आयाम से ललाट होता है चिबुक से प्रारम्भ कर केशों के अन्त तक तथा गंड तक पूरे शिर का प्रमाण बतीस अंगुल होता है। फिर दोनों कानों के बीच का विस्तार प्रमाण अट्ठारह अंगुल होता है। ग्रीव चौबीस अंगुल के परीणाह की होनी चाहिए। इसके बाद ग्रीवा (गर्दन) से वक्ष स्थल, पुनः वक्ष-स्थल से नाभि होती है नाभि से मेढ, फिर जंघायें, फिर उरूओं दोनों घुटने चार अंगुल के प्रमाण वाले होते है। चौदह अंगुल के आयाम प्रमाण से दोनों पैर (पाद) बताये गये है और उनका विस्तार छः अंगुल तथा ऊँचाई चार अंगुल की होनी चाहिए। पाँच अंगुल की मोटाई में और तीन अंगुल की लम्बाई से दोनों अंगूठे होते हैं। अंगूठे की लम्बाई के समान ही पहली अंगुली होती है। उसके सोलह भाग से हीन मध्य अंगुली होती है। मध्य अंगुली के आठवें भाग से हीन अनामिका, उसके आठवें भाग से हीन कनिष्ठिका अंगुली होती है। अंगूठे का नख एक अंगुल के प्रमाण से बनाना चाहिए और अंगुलियों के नखों का निर्माण आठ अंशों के प्रमाण से किया जाना चाहिये।[2] अंगुठे की ऊँचाई एक अंगुल एवं तीन यवों के प्रमाण से बनाना चाहिए। प्रदेशिनी एक अंगुल की ऊँचाई से हीन तथा शेष उससे क्रमशः।[3]

जंघा के विषय में समराङ्गणकार का कथन है कि जंघा के मध्य में अट्ठारह अंगुल का परिणाह होता है और जानु (घुटना) का मध्य का परिणाह (विस्तार) इक्कीस अंगुल का होता है। जानु कपाल के इक्कीस अंगुल के सातवें भाग जितना होता है। दोनों ऊरूओं के मध्य का परिणाह बत्तीस अंगुल का होना चाहिए। वृषण पर स्थित मेढ का परिणाह छः अंगुल का तथा कोष चार अंगुल के परिणाह वाला होता है। कटि अर्थात् कमर अट्ठारह अंगुल का विस्तार होता है।[4]

जहां तक स्त्री प्रतिमाओं के निर्माण के विषय की बात है तो ग्रन्थकार का थन है कि उसके अङ्ग विशिष्ट एवं शास्त्रानुसार होने चाहिए। नाभि के मध्य में छियालीस (46) अंगुलों का परिणाह होता है, स्तनों का अन्तर बारह अंगुल के प्रमाण से होना चाहिए और दोनों स्तनों के ऊपर दोनों कक्ष प्रान्त छः अंगुल के प्रमाण से बनाने चाहिए। ऊँचाई से चौबीस अंगुलों से युक्त पृष्ठ-विस्तार होता है और वक्ष-स्थल का परिणाह भी पृष्ठ की तरह चौबीस अंगुल है। अंगुलियों के मान के विषय में

---

1. चिबुकं द्वयङ्गुलायाम तस्यार्धमधरं विदुः। तदर्धमुत्तरोष्ठः स्याद भाजी चार्धाङ्गुलोच्छ्रा (च्छ्रया)।।
नासापुटौ तु विज्ञेयौ चतुर्थ भागमष्ट (मोष्ठ) योः तयोः प्रान्तौ तु कर्तव्यौ करवीरसमौ शुभौ।।
तारकान्त समे चैव सृकणी परिचक्षते। नासिका स्या (त्) प्रमाणेन चतुरङ्गुलमायते (ता)।।
पुटभा (प्रा) न्ते च विस्तारो नासाग्रस्याङ्गुलद्वयम्। विस्तारेणाङ्गुलान्यष्टौ तदर्थमपि चायतम्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-76, श्लोक-22 से 25

2. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-75, श्लोक-26 से 35

3. जङ्घामध्ये परिणाहो भवेदष्टादशाङ्गुलः।।
जानुमध्ये परीणाह (इ?) स्त (स्त्व) ङ्गुलान्येकविंशतिः। तस्यैव सप्तमं भागं विद्याज्जानुकपालकम्।।
कु (ऊ) रू मध्ये परीणाहो भवेद् द्वात्रिंशदङ्गुलः। (भागार्धमाशै?) वृषणौ मेढ्रं वृषणसंस्थितम्।।
षडङ्गुलपरीणाह कोशस्तु चतुरङ्गुलः। अष्टादशाङ्गुलमिता विस्तारेण कटिर्भवेत्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-76, श्लोक-35 से 38

4. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-76, श्लोक-39 से 45

आलोच्य ग्रन्थ में कहा गया है कि वह भी शास्त्र अनुसार होनी चाहिए। बत्तीस अंगुलों के परिणाह से ग्रीवा अर्थात् गर्दन बनानी चाहिए। भुजा की लम्बाई छयालीस (46) अंगुल के प्रमाण से बतायी गई है। बाहु के पर्वोपरितन (तपेज) अट्ठारह अंगुल का और दूसरा पर्व सोलह अंगुल की होनी चाहिए। मध्य में बाहु अट्ठारह अंगुल परिणाह का होता है और प्रबाहु का परिणाह बारह अंगुल से और तल भी बारह अंगुल के प्रमाण से होता है।[1] पांच अंगुल के प्रमाण से मध्यमा अंगुली और मध्य के पर्व के आधे से आगे हीन प्रदेशिनी अंगुली और प्रदेशिनी के समान ही आयाम से अनामिका बनानी चाहिए। आधे पर्व के प्रमाण से हीन कनिष्ठिका अंगुली बनानी चाहिए। पर्व के आधे प्रमाण से अंगुलियों के सब नाखुन बनाने चाहिए। इसका परिणाह आयाम-मात्र बताया गया है। अंगुठे का दैर्ध्य चार अंगुलों का होता है। स्पष्ट, चारू अर्थात् सुन्दर यवांकित पञ्चागुल इसका परिणाह विहित है। ऊँचाई के अनुकूल ही मान पर्यन्त से कुछ हीन नख बताये गये हैं। अंगुष्ठ और प्रदेशिनी का अन्तर दो अंगुल का होता है। स्त्रियों का इसी प्रकार से स्तन, उरू, जघन अधिक होता है। तीन, चार, चार, तीन अथवा केवल चार अधिक होता है। ग्यारह अथवा दस अथवा तेईस— तेईस — यह सब स्त्रियों का कनिष्ठ मान होता है। आठ कला का मान उत्तम माना गया है और मध्य-मान ग्यारह अंश का होता है। उनके वक्ष स्थल का विस्तार अट्ठारह अंगुल और कटि का विस्तार चौबीस अंगुल होता है।[2]

प्रतिमाओं के अंगों, उपाङ्गों तथा उनके मान का विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त राजा भोज का कथन है कि सकल देवों की पूजाओं से क्रमशः यह प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है इसलिए शिल्पियों को सावधानी से यथोचित द्रव्य-संयोग से इन प्रतिमाओं का निर्माण करना चाहिए।[3]

**गुण तथा दोष** – प्रतिमा के गुण एवं दोषों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध होता है। ग्रन्थकार का कहना है कि कोई प्रतिमा चाहे कितनी भी सुन्दर क्यों न हो परन्तु यदि उसका शास्त्रानुसार निर्माण नहीं किया जाये तो वह अपूज्य है-एक प्रकार से वह देव प्रतिमा ही नहीं है। वहाँ कहा गया है, अशास्त्र शिल्पी के द्वारा दोष-युक्त निंमत प्रतिमा सुन्दर होने पर भी ग्राह्य नहीं हो सकती।

**प्रतिमा के गुण** – समराङ्गणसूत्रधार में निंदष्ट है कि शास्त्र प्रतिपादित विधान के अनुसार ताम्र, लौह से अथवा सोने तथा चाँदी से प्रतिमा को बनाना चाहिए। इसलिए सब प्रयत्नों से शास्त्रज्ञ स्थपति को यथा-शास्त्र तथा प्रमाणानुसार सुविभक्ता प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूढ़-संधिकरणा, समाना, आयति वाली, सीधी इस प्रकार की रूपवती एवं प्रमाणों और गुणों से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। जहाँ तक पुरुष-प्रतिमाओं का सम्बन्ध है वे भी पूणांग, अविकालांग निर्मेय हैं।[4]

**प्रतिमा के दोष** – प्रतिमा के दोषों का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि अशिलष्ट-सन्धि, विभ्रान्ता, वक्रा, अवनता, अस्थिता, उन्नता, काकजंघा, प्रत्यंग-हीना, विकटा, मध्य में ग्रन्थिनता- इस प्रकार की देवता प्रतिमा को बुद्धिमान शिल्पी पुरुष को कल्याण के लिए कभी नहीं

1. प्रमाणमेतत् सक (लाशराणा मर्धास्तु?) निर्दिष्टमनुक्रमेण।
   कार्य सदा शिल्पिभि (रंशुमतै?) र्यथोचितद्रव्यसमुद्भवासु।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-76, श्लोक-56
2. सुविभक्तां यथोत्सेधां प्रसन्नवदनां शुभाम्। निगूढसन्धे (न्धि) करणां समायतिमृजुस्थिताम्।।
   (ईद्दशां राणायेदर्धां?) प्रमाणगुणसंयुताम्। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-76, श्लोक-18 से 19
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-78, श्लोक-3 से 9
4. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-78, श्लोक-10 से 16

बनवाना चाहिए, क्योंकि अश्लिष्ट-संधि वाली देवता प्रतिमा से मरना, भ्रान्ता से स्थान विभ्रम, वक्रा से कलह, नता से आयु-क्षय, अस्थिता से मनुष्यों का नित्य धन-क्षय र्निदष्ट होता है। उन्नता से भय और हृदय रोग समझना चाहिए। इसमें कोई संशय नहीं है। कामजंघा से देशान्तर-गमन और प्रत्यंग-हीना से गृह-स्वामी को नित्य अनपत्यता तथा विकटाकारा प्रतिमा से दारूण भय समझना चाहिए। अधोमुख से शिर रोग होता है। इन दोषों से युक्त जो प्रतिमा अर्थात् प्रतिमा हो उसको वर्ज्य समझना चाहिए।[1]

इन दोषों के अतिरिक्त आलोच्य ग्रन्थ में भी अनेक प्रकार के दोषों से युक्त प्रतिमा का वर्णन किया गया है। जिनमें सर्वप्रथम उद्वद्ध-पिण्डिता गृह स्वामी को दुःख देती है, कुक्षिगता, र्दुभक्ष और कुब्जा प्रतिमा मनुष्यों को रोग देती है। पार्श्व-हीना प्रतिमा तो राज्य के लिए अशुभ र्दशनी होती है। जो प्रतिमा नाना काष्ठों से युक्त तथा लौह-पिण्डिता और सन्धियों से बंधी हो, वह प्रतिमा अनर्थ और भय को देने वाली कही गई है। लौह से अथवा कदाचित त्रपु से और उसी प्रकार से काष्ठ से प्रतिमा बनाना बताया गया है। आलोच्य ग्रन्थ में यहाँ तक कहा गया है कि इच्छा रखने वाले को सन्धियाँ भी सुश्लिष्ट बनानी चाहिए।[2]

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ के अनुसार जो स्थपति संपूर्ण गुणों को समझकर और संपूर्ण दोषों को ध्यान में रखकर वास्तु-शास्त्र प्रतिपादित गुणों से कल्याण के लिए जो शिल्पी प्रतिमा का निर्माण करता है, उस शिल्पी की लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की उपासना करते हैं तथा इसकी बार-बार प्रशंसा करते हैं।[3]

### शरीर की मुद्रा

**प्रतिमा के ऋज्वागतादि स्थान-लक्षण** - आलोच्य ग्रन्थ के इस 79वें अध्याय में प्रतिमा के शरीर की विभिन्न मुद्राओं का वर्णन किया गया है। मुद्रा शब्द का अभिप्राय है विभिन्न अंगों विशेषकर हस्त, पाद तथा मुख की आकृति विशेष से है। जिसमें प्रतिमा की चेष्टा प्रतीत होती है। संपात एवं विपात से स्थानक प्रतिमाओं में नौ वृत्तियाँ उपकल्पित की गई हैं। वास्तव में मुद्रा के द्वारा ही समस्त उपदेश एवं ज्ञान वितरण कर देती हैं। मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एवं पाद-मुद्रा। आलोच्य ग्रन्थ के 79वें अध्याय में "ऋज्वागतादि स्थान" लक्षण में शरीर मुद्रा अर्थात् चेष्टा का वर्णन किया गया है तथा "पताकादि" 83वें अध्याय में हस्त-मुद्रा का और "वेष्णावादि स्थानकं" 80वें अध्याय में पाद-मुद्रा का वर्णन हुआ है। परन्तु समराङ्गणकार ने इस अध्याय में प्रतिमा के शरीर की नौ मुद्राओं का वर्णन किया है।

इनमें सर्वप्रथम शरीर-मुद्रा ऋज्वागत है, दूसरी अर्धऽवगित, उसके बाद साचीकृत फिर

---

1. (क्षान्त?) गुणान् परिकलङ्क्य च दोषजात मर्चा यथोदितगुणां (विदधीता मतृन्या?)।
शिष्यत्वमेत्य विविध (त्स?) मुपासतेऽन्ये तं शिल्पिनः कृतध्ये (धि) यश्च मुहुः स्तुवन्ति।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-78, श्लोक-21
2. अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि (नेवि?) स्थानविधिक्रमम्। (संपात्यारूधाणां?) हि जायन्ते नव वृत्तयः।।
(पूर्वभृष्कागतं तेषां ततोऽर्ध्वक्षरगतं भवेत्?)। ततः (शचीक्षतं?) विद्यादध्यर्धाक्षमनन्तरम्।।
चत्वार्यूर्ध्वागतादीनि परावृत्तानि तानि च। ऋज्वागतपरावृत्ता (त्तं) ततोऽर्धर्ज्वागतादिकम्।।
(शचीकृत?) परावृत्त ततोऽध्यधासपूर्वकम् पार्श्व (श्वा) गतं च नवमं स्थान भित्तिकविग्रहम्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-1 से 4
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-5 से 18

अध्यर्धाक्ष-ये-चारों शरीर-मुद्रायें ऊर्ध्वागत हैं। इसके बाद परावृत शरीर-मुद्राओं का वर्णन करते हैं। उनमें भी ये ही परावृत पदोत्तर ये चारों मुद्रायें बन जाती हैं :- ऋज्वागत परावृत्त, अधर्ज्वागत परावृत, अध्यर्घाक्ष परावृत तथा साचीकृत और नवी शरीर मुद्रा यतः परावलम्वी है अतः इसे पार्श्वागत के नाम से पुकारते हैं क्योंकि वह भित्तिक-विग्रह है। स्थान-विधि मुख्य चार है परावृत्त-परिक्षेप यह आठ हुई और नौ पार्श्वागत के रूप में र्वणत किया गया हैं और इसके व्यन्तरों की संख्या इकतीस बनती है। जो इस तरह से हैं - ऋज्वागते तथा अर्धर्ज्वागत, इन दोनों के मध्य में व्यन्तर चार बनते हैं। अर्धर्ज्वागत तथा साचीकृत इन दोनों के मध्य में तीन व्यन्तर बनते हैं। अध्यर्धाक्ष और साचीकृत इन दोनों के मध्य में केवल दो व्यन्तर बनते हैं। पार्श्वागत का व्यन्तर केवल बनता है। ऋज्वागत के परावृत्त तथा पार्श्वागत इन दोनों के मध्य दस व्यन्तर बनते हैं इसी प्रकार अन्य शरीर अवयवों को दृष्टि में रखकर जैसे अर्धापांग, अर्धपुट, अर्धसाचीकृत-मुद्रा स्वस्तिक मुद्रा आदि इन व्यन्तरों से चित्र शास्त्र विशाखों ने व्यस्त मार्ग से इनकी संख्या इकतीस कही है। जिस प्रकार परावृत्त, उसी प्रकार व्यन्तर भी यथाक्रम विभाव्य हैं। वास्तव में भित्तिक में कोई भी वैचित्र्य नहीं परिकल्प्य है; वह सब चित्राश्रित ही है।

आलोच्य ग्रन्थ में कहा गया है कि दोनों पादों में सुप्रतिष्ठित वैतस्त्य के अन्तर की स्थापना करनी चाहिये। हिक्का (गले के नीचे वाला हिस्सा) में दोनों की निकट-भूमि पर लम्ब प्रतिष्ठित हो, जैसा ऋज्वागत का प्रमाण निरूपित किया गया है, उसी तरह से अर्धर्ज्वागत का भी प्रमाण समझना चाहिये। ब्रह्मसूत्र को मुख का मध्यगामी बनाना चाहिये। नेत्र-रेखा-समत्व से ही टेढ़े तल प्रमाण से मुख निर्मेय है। अपांग का, अक्षिकुट का और कान का क्षय विहित होता है, दूसरे स्थान पर मान कर्ण का आधे अंगुल से माना गया है दूसरे अक्षि पर ब्रह्म-लेखा का विधान है जो शास्त्रानुसार है।

**आँख** - अक्षि का विधान समराङ्गण ने अपने ग्रन्थ में इस तरह से र्वणत किया है कि अक्षि (आँख) का श्वेत भाग तीन यव के प्रमाण से और तारा पूर्व-प्रतिपादित प्रमाण से निर्मेय है। उसका विस्तार और श्वेत भाग तथा करवीर भी पूर्वोक्त प्रमाण से बनाना चाहिए। ब्रह्मसूत्र से एक अंगुल के प्रमाण से करवीर होता है। उसका दूसरा अंग तो एक अंगुल के प्रमाण से संगम होता है। कर्ण और आँख का अन्तर एक कला और आधे अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। ब्रह्मसूत्र से एक अंगुल के प्रमाण से और कपोल से दो अंगुल के प्रमाण से पुट (नास्यपुट) होता है। दो यव अधिक एक अंगुल के प्रमाण से दूसरा अंग होता है, पर भाग में अधर तो छः यव के प्रमाण से बनाया जाता है।[1]

**कपोल** - गण्ड (कपोल, गाल) भी यथोचित परिकल्प्य है। ब्रह्मसूत्र से फिर (ठोढ़ी) हनु पर भाग में डेढ़ अंगुल के प्रमाण से होता है और फिर मुख-लेखा एक अंगुल के प्रमाण से विहित है। इसी तरह अन्य अङ्गों के प्रमाण भी समझ बुझकर बनाना चाहिए। ग्रन्थकार का कथन है कि इन अङ्गों तथा उपाङ्गों के निर्माण में सूत्र का विधान प्रमाण की दृष्टि से बहुत ही अनिवार्य हैं। कक्षाधर दूसरे भाग में सूत्र से पाँच गोलक वाला और पूर्वभाग में उसे छः गोलक के प्रमाण से समझना चाहिये। मध्य में सूत्र से पीछे पार्श्व-लेखा का विधान है। चार कलाओं के प्रमाण से, वक्ष-स्थल से मध्यम-सूत्र से कक्षा भाग छह भाग वाली होती है।

**हस्त** - वक्ष-स्थल के अन्य अंगों एवं उपांगों जैसे स्तन आदि उनका भी प्रमाणनुरूप

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-19 से 23
2. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-24 से 28

परिकल्पन विहित है। दूसरा हाथ कर्म (योग) के अनुसार बनाना चाहिये। उसी प्रकार से पूर्व हस्त का भी यथोचित प्रकल्पन होता है। मापनादि क्रिया भी वैसी दक्षिण हाथ में होती है। मध्य के बाहर के सूत्र से छः अंगुल के प्रमाण से रेखा होती है। पूर्व मध्य बाह्य-लेखा आठ मात्राओं के प्रमाण से होती है। नाभि-देश के पर भाग में यह बाह्य-लेखा सात मात्राओं की होती है। कला-मात्रा के प्रणाम से नाभि होती है। पहली छः अंगुल के प्रमाण से होती है। पर (पश्चिम) पीछे भाग में कटि सात मात्रा की और दस मात्रा की पूर्व भाग में। हृदय-रेखा पर भाग में मुख-मान के मध्य से विकल्प्य एवं निर्मेय है। पर नलक की लेखा एक अंगुल के अन्तर में होती है। उसी प्रकार पिछले भाग की लेखा षष्ठांश है। नल के द्वारा पर-पाद की भूमि-लेखा बनाई जाती है। तदन्तर अंगुष्ठ आधा अंगुल से और उसके ऊपर पार्ष्णि उसके आधे प्रमाण से। अंगुठा का अग्र भाग ब्रह्म-सूत्र में पाँच मात्राओं के प्रमाण से और तलवा पाँच अंगुल के प्रमाण से बताया गया है।[1]

**अंगुलियाँ अंगूठा** – अंगूठा का अग्र भाग तीन कलाओं के प्रमाण से बनाया जाता है। समराङ्गणकार का कथन है कि सब अंगुलियाँ अंगुठे के प्रमाण के अनुरूप विहित बताई गई हैं। इस प्रकार सन्निवेश एवं अवसाद से ये सब नौ अंगुल वाला प्रमाण होता है। जानु सूत्र से चार अंगुल में विहित है। इसका नलक भी उसी के समान और दोनों नलक तीन अंगुल के अन्तर पर होना चाहिए। भूमि सूत्र से नीचे गया हुआ पहला अंगुठा एक कला के प्रमाण से होता है, दूसरा अंगुठा और अंगुलियाँ ये सब यथोक्त प्रमाण से विहित बताई गयी हैं। इस प्रकार कहे गये प्रमाण को युक्ति से समझकर उनका निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार राजा भोज ने अर्ध-ऋध्ज्वागत-नामक श्रेष्ठ स्थान का वर्णन किया है।[2]

**साचीकृत-विशेष** – आलोच्य ग्रन्थ में साचीकृत-स्थान का लक्षण इस प्रकार हुआ है। स्थान ज्ञान की सिद्धि के लिए पहले ब्रह्मसूत्र का विन्यास करना चाहिए। पर भाग में ललाट, केश लेखा और कला होती है। पर भाग में भू लेखा का यथाशास्त्र प्रमाण विहित है, उसी प्रकार अन्य प्रमाण होते है। ज्योति के परभाग में एक यव के प्रमाण से तारा दिखाई पड़ती है। तदनन्तर ज्योति यव मात्र और फिर उससे दो यवों के प्रमाण से तारा होती है। श्वेत और करवीर (आंख का काला भाग) तदनन्तर प्राक्कथित प्रमाण से कनीनिका निर्मेय है। नासिका का मूल एक यव के अन्तर से समझना चाहिये। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वभाग में दो ऊर्ध्व गोलक होते है। वहाँ पर उपाङ्ग दो गोलक के प्रमाण के अन्तर में समझना चाहिये। एक भाग के प्रमाण से कर्ण का अभ्यन्तर और एक भाग के विस्तार से कर्ण होता है। दो यव से कम एक कला के प्रमाण व्यावृति से बढ़ाई गई आँख होती है।[3]

पूर्व के करवीर के साथ सफ़ेदी तीन यव के प्रमाण से बताई गई है और दूसरी सफ़ेदी, आँख तारा का प्रस्तार पूर्व प्रमाण से प्रतिपादित की गई है। कपाल-लेखा एक कला की होती है। ब्रह्मा-सूत्र से दूसरे में नासिका का अग्रभाग सात यवों के प्रमाण से बताया गया है। पूर्व भाग में नासा-पुट एक यव अधिक एक अंगुल के प्रमाण से विहित है। पूर्वभाग में उसके निकट गोजी बनाई जाती है। पर भाग वाला उत्तरोष्ठ अर्ध मात्रा के प्रमाण से बनाया जाता है अधरोष्ठ तीन यव के प्रमाण से। शेष से उन दोनों का चाप-चय होता है। पाली के मध्य में सूत्र होता है और पाली के परे चिबूक होता है। हनु

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-29 से 38
2. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-39 से 44
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-45 से 50

पर्यन्त लेखा सूत्र से आधे अंगुल पर होती है हुन के दूसरे भाग का मध्यगामी सूत्र-परिमंडल कहलाता है। एक ही सूत्र के साथ दूसरी आँख तक परिस्फुटा होठों के ऊपर मुख-पर्यन्ता लेखा बनानी चाहिये। इन लेखाओं से विचक्षण को पर भाग का निर्माण करना चाहिये।[1]

**ग्रीवा** – ग्रीवा आदि अन्य अंगोंपांगों का भी प्रमाण शास्त्रानुरूप विहित है। पूर्वभाग में सूत्र से आधे अंगुल के प्रमाण से हिक्का सुप्रतिष्ठित होती है। बाह्यलेखा उस सूत्र से आठ अंगुल के प्रमाण से परभाग में स्थित होती है। हिक्का-सूत्र से लेकर हृदय-भाग आगे होता है। उसी मात्रा में अन्य अत्रत्य प्रदेश परिकल्प्य हैं हिक्का सूत्र से पाँच अंगुल प्रमाण वाले पर भाग में स्तन होते हैं। रेखा का अन्त सूचन करने वाला मंडल डेढ़ अंगुल के प्रमाण से बनाना चाहिये। उसके बाद बाहर का भाग एक मात्रा से निंदिष्ट करना चाहिये और हिक्का-सूत्र से लेकर स्तन-पर्यन्त यह छः अंगुल के विस्तार में प्रकल्प्य है। कक्षा के नीचे दो कलाओं के प्रमाण से बाह्यलेखा बनाई जाती है। भीतर की बाह्य लेखा स्तन से पाँच अंगुल के प्रमाण से बनाई जाती है और ब्रह्मा-सूत्र से एकभाग से मध्यभाग में अन्य अंग बताया गया है जो टेढ़ा विभाजित किया जाता है। पूर्वभाग में मध्य-प्रान्त सूत्र से दस अंगुल वाला होता है। ब्रह्म-सूत्र से नाभि-प्रदेश टेढा होता है। चार यवों से अधिक चार अंगुल के प्रमाण से वह बनाया जाता है। पूर्वभाग में वह ग्यारह अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। मध्य से दूसरे के दोनों उरूवों का अभ्यन्तराश्रित सूत्र कहा जाता है। और ऊपर भाग से पहले की एक कला से वह कहा जाता है।[2]

जानु का अधोभाग आधी कला और तीन यव से बनता है। जंघा के मध्य से लेखा का प्रमाण नलक प्रसक्त होता है पुनः चार से सूत्र इष्ट होता है। इसी प्रकार से बाहरी लेखायें बनायी जाती हैं। ब्रह्म-सूत्र के पाँच अंगुल के परभाग में कटि-प्रदेश निवेश होता है। इसी प्रकार अन्य गोप्य स्थान मेढ्र आदि एवं ऊरू-मूल आदि सब विनिर्मेय हैं। सूत्र के ऊपरी भाग से उरू के मध्य में दो कलाओं के प्रमाण से रेखा बनाई जाती है और सूत्र से पूर्व उरू का मूल, पूर्व से एक कला के प्रमाण से और उसका पार्श्व आधे अंगुल से बनाया जाता है। सूत्र के द्वारा पर-पाद की मध्य रेखा विभाजित की जाती है। आदि, मध्य और अन्त इन तीनों रेखाओं को "साची-सूत्र" में उदाहृत किया गया है।[3]

प्राक्-भाग से अमलक पाँच अंगुल प्रान्त का होता है। परभाग स्थित उरू और जंघा इन दोनों का आधे अंगुल के प्रमाण से क्षय बनाना चाहिए। पराक्षिमध्यगामी सूत्र से लम्ब-भूमि प्रतिष्ठित होने पर पाद-तलान्त से पूर्वभाग एक अंगुल से बनाया जाता है। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वपाद का तल आठ अंगुल से होता है। दोनों तलों के नीचे सूक्ष्मा लेखा अट्ठारह अंगुल के प्रमाण से बनायी जाती है। अंगुष्ठ-प्रान्त से प्रदेशिनी एक अंगुल से अधिक बनती है। पुनः अंगुष्ठ मूलागम से अन्य अंगुलियाँ विहित हैं। यहाँ ये जो लेखा बनती है उसे भूमिलेखा कहा गया है। सूत्र से आधे अंगुल से उसके ऊपर पर पार्ष्ण विहित है। पूर्वपाद के अनुसार अंगुष्ठ में अंगुली का पात होता है। पुनःउपप्रदेशिनी-मान से पर प्रदेशिनी बनायी जाती है। तदनन्तर अन्य अंगुलियाँ क्रमशः प्रकल्पित वहाँ होती हैं।

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ में साचीकृत-नामक स्थान का यथार्थ वर्णन किया गया है।[4]

**अध्यर्धाक्ष-स्थान-मुद्रा-विशेष** – आलोच्य ग्रन्थ में अध्यर्धाक्ष-स्थान-मुद्रा का वर्णन इस प्रकार

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-51 से 58
2. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-59 से 69
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-70 से 75
4. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-76 से 82

किया गया है। ब्रह्मसूत्र को मुख में रखकर के यहाँ पर मान किया जाता है। केशान्त-लेखा सूत्र से यव-सहित एक मात्रा की हाती हैं। भू प्रदेश को दो यव मात्राओं में, कृशयवाङ्गल वाली भ्रू-लेखा यहाँ विहित है। अक्षि, तारा, आदि अर्ध-प्रमाण से विहित हैं। कपोत-रेखा पर भाग से पर्व एक अंगुल से बनती है नासिकान्त एक अंगुल सूत्र से परे करना चाहिए। पुनः मूल में नासापुट आधा गोजी का सूत्र मध्यग विहित है। आधे यव की मात्रा से गोजी होती है और पर भाग का जो उत्तरोष्ठ होता है वह ब्रह्मसूत्र से लगा कर दो यव के प्रमाण से समझना चाहिए। पर भाग में तो नासिका के नीचे रेखा आधे-आधे अंगुल से होनी चाहिए।[1]

अधरोष्ठ के पर भाग में प्रमाण यव बताया गया है। हनु तक रेखा के मध्य में सूत्र प्रतिष्ठित होता है। सूत्र से पहले करवीर का प्रमाण दो यव कम दो अंगुल होता है और वह आधे यव के प्रमाण से होता है। सफेदी (आंख की सफेदी) डेढ़ के प्रमाण से बताई गयी है। तारा तीन यव के प्रमाण से समझना चाहिए। कान के परदे के नीचे कर्ण-मध्य-भागीय दो अंगुल से प्रमाण से कर्ण का विस्तार विहित है। कान के परदे से चार यव के प्रमाण में शिरःपृष्ठ-लेखा होती है। समराङ्गणकार का कथन है कि जैसा बताया गया है वैसा ही विधान समझकर करना चाहिये।

कर्ण सूत्र से बाहर एक अंगुल के प्रमाण से ग्रीवा बनानी चाहिए। गल, ग्रीवा, हिक्का, प्रागङ्गलोत्तर विहित है। हिक्का सूत्र से ऊपर अंस-लेखा अर्थात् स्कन्ध-लेखा, उसी प्रकार से एक अंगुल के प्रमाण से ग्रीवा बनानी चाहिए। ब्रह्मसूत्र से अंगुल सम्मित पर भाग में अंस अर्थात् कंधा होता है। कक्षा-सूत्र से पहिले स्तन का प्रमाण केवल एक भाग मात्र से, कक्षा से तीन कलाओं तक पार्श्व-लेखा बनायी जाती है। आगे की भुजाएँ शास्त्र अनुसार हैं। प्रासाद-मध्य-सूत्र ग्यारह अंगुल का होता है। पर भाग में सूत्र से एक अंगुल के प्रमाण से नाभि इष्ट होती है। नाभि की ऊपर-लेखा तो तीन अंगुल समझनी चाहिए। दोनों नितम्ब (श्रोणी) का प्रदेश से विहित है।[2]

ब्रह्मसूत्र से पूर्व भाग में तीन भाग वाली और पर में तीन अंगुल वाली कटि अर्थात् कमर विहित है। ब्रह्मसूत्र सूत्राश्रित तल में मेढ्र-स्थिति विहित है। पूर्वोक्त मध्य-रेखा सूत्र के प्रत्यंगुल अन्तर में उसे बनाई जाती है। पर की दोनों उरूवों की मूल-रेखा-सूत्र से दो कलाओं के अन्तर पर होती है। राजा भोज कहते है कि यहाँ तक जानुओं का प्रश्न है, वे भी इन्हीं भाग प्रमाण में विहित हैं। जानु के मध्य मे गयी हुई लेखा ब्रह्मलेखाश्रित होती है। आधे-आधे मात्रा की जानु होती है और उसकी अधलेखा जो होती है, वह सूत्र से पूर्व की ओर अंगुल के प्रमाण से बनायी जाती है और सूत्र से परे परांगुष्ठ-मूल पादक में एक अंगुल से नवगुंल विहित है[3] और स्फिक् से सात अंगुल परे होता है। कक्षा का मूल, आयाम और गर्भ से दस अंगुल वाला होता है। आगे उसका निर्गम एक अंगुल से और पीछे से सात अंगुल से, गर्भसूत्र से तदन्तर तिरछा पादांश अट्ठारह अंगुल वाला होता है। गर्भ प्रदेश पाँच अंगुलों से बनाया जाता है। जठर-गर्भ दोनों पार्श्वों पर और सामने भी अंगुल से पेट का प्रदेश,

1. भुवः सद्वियवामात्रा लेखा कृशयवाङ्गुलाः। दक्तोयमन्तरे वर्त्म ताराय अर्धमालिखेत्।।
स ब्रह्मसूत्रादारभ्य विज्ञेयो द्वियवोन्मितः। परे त्वधस्तान्नासाया रेखा चार्धाङ्गुलैर्भवेत्।।
स्वैत्यं चतुर्यवं द्दश्यशेषं सा तिरस्कृतम्। कपोतरेखा परतो यववर्जितमङ्गुलम्।।
सूत्रापूर्वपटान्तः स्यादर्धाङ्गुलमितेन्तरे। नासिकान्तोङ्गुलं सूत्रात् परे पूर्वेतपाङ्गुलम्।।
मूले नासापुटः साद्र सूत्रं गोज्याश्चं मध्यगम्। यवार्धमात्रा गोजी स्यादुत्तरोष्ठ परस्य यः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-98 से 102

2. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-103 से 113
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-114 से 118

पीठ पश्चात् सात अंगुलों से, साढे बारह अंगुलों से ऊरूवों का मूल बताया गया है।

पाँच अंगुल के प्रमाण से इसका पहले का निर्गम और पीछे का निर्गम सात अंगुल से। ऊरू मूल के पीछे से दोनों स्फिज् तीन अंगुलों के प्रमाण से निर्गत होते हैं। आगे मेढ् गर्भ-सूत्र से छः अंगुल का समझना चाहिए। टेढ़े सूत्र से जानु पार्श्व साढ़े नौ अंगुलों से समझना चाहिये। गर्भ से टेढ़ा उसका नल छः अंगुल वाला और पृष्ठ भाग से वह नौ अंगुल वाला होता है। सूत्रान्त से अंगुल पर्यन्त साढ़े छः अंगुलों से यह नलक निर्मेय है। इसका विस्तार भी शास्त्र अनुसार परिकल्प्य है। दैर्ध्य से यहाँ पर चौदह अंगुलों वाला होता है। जानुओं एवं अन्य प्रदेशों का अन्तर अंगुल-मात्र है। इस प्रकार ऋज्वागत तथा अर्धऋज्वागत मध्य सूत्र से बताया गया है। इस प्रकार इन सबके शेष परावृत्तों एवं व्यन्तरों का भी प्रबन्धन तथैव विहित है।[1]

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ में ऋज्वागत, अर्धऋज्वागत, साचीकृत, अध्यर्धाक्ष, एवं पार्श्वगत नामक स्थानों का वर्णन समराङ्गणकार ने बड़े विस्तार के साथ किया है और इन्हीं के चार परावृत और उन्हीं के बीस अन्तर भी बताये गये हैं।[2]

**रस दृष्टियाँ** - प्रतिमा निर्माण के अन्तर्गत ग्यारह रसों एवं सौलह रस दृष्टियों को भी ग्रन्थकार ने लक्षण सहित वर्णन किया है यथा- ललिता, हृष्टा, विकासिता, भयानका (विकृता), भ्रुकुटी, विभ्रमार, कुंचिता, योगिनी, दीना, दृष्टा, विह्वला, शंकिता, जिह्मा, मध्यस्था एवं स्थिरा।

1. विकसित, कटाक्ष विक्षेप (यानि भ्रूपात) से युक्त, श्रृंङ्गार रस से उद्भुत, दृष्टि 'ललिता' कही गई है।[3]

2. प्रिय के दर्शन से प्रसन्न होने वाली, रोमांचित, विकसित पलकों (अपाङ्ग) वाली, दृष्टि 'हृष्टा' नाम से कही गई है। आँखों के अन्त तक विकसित, कपोल तल पर्यन्त पलकों के विकास वाली, क्रीड़ाओं से युक्त 'विकासिता' दृष्टि हास्यरस में होती है।

4. प्रसिद्ध, प्रीतिविकारों में भय को व्यक्त करने वाली, और जो घबराई हुई पुतलियों वाली हो, विकृति के आकारों और सारों को बतलाने वाली 'भयानका' दृष्टि कही गई है।

5. मन्ददर्शन वाली अर्थात् जिसमें अल्पमात्रा में दिखाई दे रहा हो, ऐसी उठी हुई दृष्टि 'भ्रुकुटि' दृष्टि कही जाती है।

6. सत्व में स्थित दृढ़ लक्षण, बाहर की ओर निकली पुतलियों वाली एवं सौम्या दृष्टि 'विभ्रमा' नाम की होती है।

7. कामदेव के मद से युक्त, स्पर्श रस से मुंदी हुई पलकों वाली, सुखानन्द से युक्त दृष्टि संकुचिता' नाम से कही गई है।

---

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-157 से 168
2. ऋज्वागतार्धर्जुकसाचिसंज्ञाध्यर्धाक्षपार्श्वागसंज्ञकानि।
   तेषां परावृत्तचतुष्टयं च प्रोक्तान्यथो विंशति (र) न्तराणि।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-79, श्लोक-190
3. अथ दृष्टीरभिदध्मो ललिता दृष्टा विकासिता विकृता। भ्रुकुटी विभ्रमसंज्ञा संकुचिता (छवितनाप्रीव?)।।
   ऊर्ध्वगता योगिन्यथ दीना दृष्टा च (विविष्टहला खेवे)। (स्यादङ्किता?) भिधाना (विविख्याव?) जिह्वा च।।
   मध्यस्थेति तथान्या स्थिरेति (चाष्टविवमुद्दष्टा?)। एता द्दशोऽथ लक्षणमेताना (सा) मुच्यते क्रमशः।।
   विकसित (प्रगल्लाससम्भ्रमत्र?) कटाक्षविक्षेपा। श्रङ्गाररसोद्भूता द्दष्टिर्ललितेति विज्ञेया।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-82, श्लोक-14 से 17

8. किसी भी प्रकार के विकारों से रहित, नासिका के अग्रभाग पर अवस्थित, चित्त के तत्त्वों को जोड़ने में लगी हुई दृष्टि 'योगिनी' नामक होती है।

9. आधी मुंदी हुई पलकों वाली, कुछ-कुछ अवरुद्ध पुतलियों वाली, अत्यन्त मन्दगति युक्त आँसूओं सी भरी हुई शोक में, 'दीना' नाम की दृष्टि कही जाती है।

10. जिसमें पुतलियाँ ठहरी हुई यानि संस्थित हों, दृष्टि स्थिर तथा विकसित हो, सत्व को प्रकट करती हुई 'दृष्टा' दृष्टि उत्साह संज्ञक स्थायी को प्रकाशित करती है।[1]

11. दुःखी बरौनियों (भवों) एवं पलकों वाली, शिथिल (ढीली) मन्द-मन्द संचारित होती हुई, भीतर धंसी हुई पुतलियों वाली 'विह्वला' दृष्टि कही गई है।

12. कुछ चंचल सी और कुछ निश्चल सी, कुछ उठी हुई सी, कभी तिर्यग विस्तारित दृष्टि, जिसमें पुतलियाँ भौंचक्की और चकित सी हों, 'शंकिता' दृष्टि कही जाती है।

13. जिस दृष्टि में बरौनियों (भवों) के भाग कुछ मुड़े हुए तथा पलकें संकुचित एवं पुतलियाँ अन्दर की ओर हों "कुञ्चिता" दृष्टि कही गई है।

14. लम्बी एवं आधी मुंदी पलकों वाली, धीरे-धीरे टेढ़ी होती दृष्टि, पुतलियाँ गहराई में छिपी हुई हों तो उस दृष्टि को "जिह्वा" कहा जाता है।

15. प्रसन्न, अनुराग या प्रेम से रहित, आदर किसी भी विषय के प्रति आसक्ति का त्याग करने वाली 'मध्यस्था' दृष्टि कही जाती है।

16. स्थिर टिकी हुई पुतलियों वाली, स्थिर यानि टिकी हुई पलकों वाली, भवों के विकारों से रहित समान भाव में स्थिर, किसी भी प्रकार की चञ्चलता से रहित दृष्टि "स्थिरा" कही गई है।[2]

**पताकादि चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण** – आलोच्य ग्रन्थ के 83वें अध्याय में राजा भोज ने हस्त-मुद्रा का वर्णन सविस्तार से किया है। हस्त और मुद्रा इन दोनों शब्द को सम्बन्ध कारक (हस्त की मुद्रा) में ही समझना चाहिये। आलोच्य ग्रन्थ की ये हस्त-मुद्रायें 'भरत' के नाट्य-शास्त्र में प्रातिपादित हस्त मुद्राओं की ही अवतारणा है।

आलोच्य ग्रन्थ में तीन प्रकार के हस्तों का वर्णन हुआ है 1. असंयुत, 2. संयुत और 3. नृत्त। इन हस्तों की संख्या चौंसठ हैं। जो इस प्रकार है।

**1. असंयुत-हस्त** – पताक, त्रिपताक, कर्तरीमुख, अर्धचन्द्र, अराल, शुकन्तुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, खटकामुख, सूच्यास्य, पद्मकोश, अहिशीर्ष, मृगशीर्ष, कांङ्गल, पद्मकोल, चतुर, भम्रर, हंसास्य, हंसपक्ष, सन्देश, मुकुला, उर्णनाभ और ताम्रचूढ़।[3]

**2. संयुत-हस्त** – तेरह प्रकार के संयुत हस्त इस प्रकार से है यथा :- अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटक, वर्धमान, उत्सङ्ग, दोल, पुष्पपुट, मकर, इत्यवतिथ और 12. निषध और 13. गजदन्त।[4]

---

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-82, श्लोक-18 से 26
2. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-82, श्लोक-27 से 32
3. पताकस्त्रिपताकश्च तृतीयः कर्तरीमुखः। अर्धचन्द्रस्तथारालः शुकतुण्डथापरः।।
   मुष्टिश्च शिखरश्चैव कपित्थः खटकामुखः। सुच्चास्य (स्यः) प (अ) कोशाहि (शि) रसौ मृगशीर्षकः।।
   काङ्गलपद्मकोलश्च चतुरो भ्रमरस्तथा। हंसास्यो हंसपक्षश्च सन्दंशमुकुला (वदि?)।।
   ऊर्जनाभस्ताम्रचूढ (ऽ) इत्येषा चतुरन्विता। हस्तानां विंशतिस्तेषां लक्षणं कर्म चोच्यते।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-2 से 5
4. त्रयोदश कथ्यन्ते संयुता नामलक्षणैः। अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा।।
   खटको (का) वर्धमानश्चाप्यस (प्युप्स) ङ्गनिषधाविप। डोलः पुष्पपुचस्तद्धन्मकरो गजदन्तक।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-192 से 193

**3. नृत्त-हस्त** – नृत्त-हस्त की संख्या अटठाईस है जो इस प्रकार है :- चतुरश्र, उद्वृत, स्वस्तिक, विप्रकीर्ण पद्म-कोश, अराल-खटकामुख, आविद्ध-वक्ल, सूची-मुख, रेचित, अर्धरेचित, उत्तानवञ्चित, पल्लव-हस्त, केशबन्धौ, लता-कर, करिहस्त, पक्ष-वंचित, पक्ष-प्रद्योत्तक, गरुड़-पक्षक, दण्डपक्ष, उर्ध्व-मण्डली, पार्श्व-वंचित, उरोमण्डल, उरःपाश्वघिमण्डल, मुष्टिक-स्वस्तिक, नलिनी पद्मकोश, हस्तावलपल्लवकोल्वण, ललित, वलित।[1]

आलोच्य ग्रन्थ में इन हस्तों का वर्णन सविस्तार से इस प्रकार किया है। इन चौबीस हस्तों की संख्या अर्थात्, असंयुत हस्तों के लक्षण तथा कर्म इस प्रकार है यथा-

**1. पताक हस्त** – जिसकी अंगुलियाँ अग्र भाग सहित प्रसरित होती हो, और जिसका अंगुष्ठ कुंचित होता है उसको "पताकहस्त" कहा गया है।[2]

**कर्म** – वक्ष स्थल से लगाकर शिर तक उत्क्षिप्त हस्त उठा हुआ और बायें से झूका हुआ और कुछ भुकुटियों को चढ़ाकर और कुछ आँखें फाड़कर प्रहार का निर्देश करना। पुन प्रतापन एवं उग्र रस का दर्शन करता हुआ एवं अविकृत मुख की आकृति में कुछ मस्तक पर हाथ रख कर पताक के समान स्फारित नेत्रों में सर्व भुकुटियों को आकुञ्चित भौवों के द्वारा यह हस्त साक्षात गर्व प्रतिमा (मैं साक्षात् गर्व हूँ) ऐसा चित्र शास्त्र विशारदों के द्वारा बताया गया है और जो वक्ष-स्थल है, उनमें उसको संयुत करे। इसमें दूसरा हाथ भी विहित है हाथ को ऊपर उठाकर अंगुलियों को चलाता हुआ वर्ष द्वारा निकट तथा पुष्पवष्टि का दृश्य उपस्थित करें। दोनों हाथ टढे होवें। एक को स्वस्तिक रूप प्रदान करे तथा उसकी विच्युति करे और पल्लवाकृति में दिखाई दे। इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ में प्रतिमा के अन्य सब अङ्गों एवं उपागों में यह मुद्रायें प्रस्फोटय हैं, इसमें सदैव अविकृत मुख दिखाना चाहिये।[3]

हस्त पाली को संछन्न एवं संसत प्रर्दशत करे। तलवों को अधोमुख कर के कुछ मस्तक नीचे झुका कर निविड़ से निविड़ बिना विकार के मुख रूपी कमल वक्षःस्थल के आगे तथा ऊपर परवृत्त होने पर मन की शक्ति को प्रयत्न-पूर्वक प्रदर्शन करना चाहिए। गुप्त वाम से गोप्य तथा कुछ विनत मस्तक होकर और कुछ बाई भौं को अकुञ्चित करके दिखाना चाहिए। पार्श्वस्थ पताक से दोनों पाणि-पद्मों को उससे युक्त करना चाहिये तथा अविकृत मुख से वायु सा अभिनय करना चाहिए। पुरः स्थित वाम और दक्षिण हाथ से तो पहिला कुछ सर्पण करता हुआ और दूसरा शिर को हटाता हुआ, ऐसा मनुष्य वेग का प्रदर्शन करता हुआ और नित्य अविकृत मुख धारण करता हुआ प्रदर्श्य है। अन्य अङ्गों जैसे मुख आदि से भी नाना प्रकार के अभिनय प्रदर्श्य हैं। विकृत मुख से नित्य पक्षोत्क्षेप-क्रिया करणीय है। भृकुटि आदि नेत्र प्रान्त भी महान् भयंकर एवं वीर-गुणन्वित रय से प्रदर्श्य है। ऐसा मानों साक्षात् शैलेन्द्र-पर्वत-राज को उठा रहा है। धीरे-धीरे भ्रू-लतिका को कुछ समुत्क्षिप्त कर दिखाना चाहिए। परस्पर आसक्त एवं सम्मुख उससे शैल-धारण दिखाना चाहिए उसके बाद बनावटी भृकृटी से दोनों पाश्वों का अधोभाग प्रविष्ट कराकर उसी प्रकार शैल प्रोत्पाटन दिखाना चाहिए। शिर-प्रदेश में स्थित तथा दूर से उत्तानिन ऊँची भौं से पर्वत की उद्धरण क्रिया दिखानी चाहिए।[4]

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-221 से 227
2. प्रसारिताग्राः सहिता यस्याङगुल्यो भवन्ति हि। कुञ्चितश्च तथाङ्गुष्टं स पताक इति स्मृतः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-6
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-7 से 14
4. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-19 से 39

**2. त्रिपताक हस्त** – पताक-हस्त में जब अनामिका अंगुली टेढी होती है, तब उस हस्त को "त्रिपताक हस्त" कहते हैं।[1]

**कर्म** – इसमें मध्या तथा कनिष्ठ अंगुलियाँ चल रही होती है। कुछ नतमस्तक से यह करना चाहिए और इसको ऊपर उठा कर विनत मस्तक से उसी प्रकार अवतारण-क्रिया करनी चाहिए। पास से प्रसपर्ण करता हुआ इसी प्रकार से विसर्जन करना चाहिए। पुनः प्राङ्मुख होकर अथवा भृकुटी तान कर पार्श्वस्थित से धारण और नीचे झुके हुए से प्रवेश करना चाहिए। पार्श्वस्थ से धारण तथा अधोनति से प्रवेश करते हुए दोनों अंगुलियों के उत्क्षेपण से तथा इसके तानने से अविकारी मुख से उन्नावन करना चाहिए और पार्श्व में नत मस्तकों से प्रणाम करना चाहिए।[2]

**3. कर्तरीमुख हस्त** – त्रिपताक हस्त में जब मध्यम अंगुली की पृष्ठावलोकनी तर्जनी होती है तब उसे "कर्तरीमुख हस्त" नाम से पुकारा जाता है।

**कर्म** – झुके हुए, नमे हुए पैर से सञ्चरण प्रदशर्य है तथा अन्य भंगियाँ भी अधोमुख को इसी भंगी से रंगणा करना चाहिए। ऊँची उठी हुई तथा तनी भौं दिखाये तथा कुछ नीचे झूके हुए और मरण जैसा दिखाना चाहिए। शक्ति विक्षेपण-रहित हस्त से, कुछ कुञ्चितभ्रू से शिर को झुकाते हुए चलते हुए अन्य भंगियाँ प्रदशर्य एवं अभिनय हैं।[3]

**4. अर्धचन्द्र-हस्त** – जिसकी अंगुलियाँ अंगुठे के साथ धनुष के आकार की तरह खिंची होती है उस हाथ को "अर्धचन्द्र हस्त" कहते हैं।[4]

**कर्म** – भौं को ऊँचा कर के एक हाथ से शशि लेखा तथा मध्यमा से उपन्यस्त उसी प्रकार निर्घाटन करना चाहिए। मोटे तथा छोटे पौधे, शंख कलश कंकण इन सबको संयुत हस्त में दिखाना चाहिए। रशना कुंडल आदि के तथा तलपत्र तद्देशवर्ती उससे कमर और जंघों का भी अभिनय दिखाना चाहिए। इसी से अनुगत दृष्टि अन्य अभिनयों में भी प्रदशर्य है।[5]

**5. अरालचन्द्र-हस्त** – पहली अंगुली धनुष के समान विनत बनानी चाहिए और अंगुठा कुञ्चित होना चाहिए और शेष अंगुलियाँ अराल नामक हस्त में भिन्न एवं ऊर्ध्ववलित ऊर्ध्ववलित अर्थात् उठी बतायी गई हैं।[6]

**कर्म** – आगे से फैलाये हुए तथा कुछ ऊपर उठे हुए इस हस्त के सत्व (बल) शीडीर्य (शौर्य) गांभीर्य, धर्म और कान्ति दिखाना चाहिए, और जो दिव्य पदार्थ हैं उनको भी अविकृतानन भौहों को उठाये हुए नर्तक की भांति से दिखाना चाहिए। एक हाथ से आशीर्वाद दिखाना चाहिए। स्त्रीकेश-ग्रहण जो होता है और अपने सर्वांग कर निर्वणन जो किया जाता है तथा उत्कर्षण में भी यह सब किया जाता है विवाह और सम्प्रयोग तथा बहुत से कौतुक अंगुली के आगे समायोग से बनाई गई स्वस्तिका वाले परिमण्डल प्रादक्षिण्य दिखाना चाहिए तथा इसी के द्वारा। परिमण्डल-संस्थान, महाजन और इस

1. पताके तु यदा वक्रानामिका त्वङ्गुलिर्भवेत्। त्रिपताकः स विज्ञेयः कर्म चास्याभिधीयते।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-40
2. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-41 से 46
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-63 से 68
4. यस्याङ्गुल्यस्तु विनताः सहाङ्गष्ठे (न) चापवत्।
   सोऽर्धचन्द्र इति प्रोक्ताः करः कर्मा च (स्य) कथयते।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-69
5. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-70 से 73
6. आद्या धनुर्नता कार्या कुञ्चितोङ्गुष्ठकस्तथा।
   शेषा भिन्नोर्ध्ववलिता अरालेऽङ्गुलयः स्मृताः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-74

पृथ्वी पर जो भी द्रव्य हो उनको दिखाना चाहिए।[1]

**6. शुक-तुण्ड-हस्त-मुद्रा** – अराल नामक हस्त में जब अनामिका अंगुली टेढी होती है तब उस हाथ को "शुक-तुण्ड" हस्त कहते है।[2]

**कर्म** – "तुम इस तिरछे हाथ से अपने को मत दिखाना" यह निर्देश है। पुनः प्रसारित एवं सामने झुकते हुए आवाहन, तिरछे प्रसारण, पुनः विसर्जन आदि व्यावृत्त हस्त मुद्रा में दिखाना चाहिए। इस हस्त से फिर दृष्टि एवं भ्रू भी अनुगत में प्रदर्श्य है।[3]

**7. मुष्ठि हस्त-मुद्रा** – जिस हाथ के तल-मध्य में अंगुलियाँ अग्र संस्थित होती हैं और अंगुठा उनके ऊपर होता है उसको "मुष्टि" नामक हस्त कहते हैं।[4]

**कर्म** – भृकुटि चढाये हुए मुखों सहित इस हस्त द्वारा प्रहार और व्यायाम कराना चाहिए और निर्गम में तो पार्श्व में स्थित दोनों हाथों से बनाया जाता है।[5]

**8. शिखर-हस्त-मुद्रा** – इसी मुष्टि नाम हाथ के ऊपर जब अंगुठा प्रयुक्त होता है, तब इस पाथ को प्रयोग करने वाले इस हस्त को "शिखा हस्त" नाम से समझना चाहिए।

**कर्म** – छड़ी तथा तलवार के ग्रहण में, स्तन-पीड़न में, गात्र मर्दन में, असंयुत मुद्रा में इस हस्त को प्रयुक्त करना चाहिए। कुश रश्मि अर्थात् डोरी तथा धनुष के ग्रहण का विषय है।[6]

**कपित्थ-हस्त-मुद्रा** – इसी शिखर-नामक हस्त की जब प्रदेशिनी नामक अंगुली दो अंगुठों से निपीडित होती है तब उस हस्त को "कपित्थ हस्त" नाम से पुकारा जाता है।

**कर्म** – इसी हाथ से विद्वान् को चाप, तोमर, चक्र, असि (तलवार), शक्ति, वज्र, गदा आदि इन सब शस्त्रों को चलाने का अभिनय करना चाहिए। इस प्रकार इन आयुधों के विक्षेपावसर दृष्टियों एवं भ्रू-चालनों का भी संयोग अपेक्षित है।[7]

**10. खटकामुख हस्त-मुद्रा** – कपित्थ हस्त की जब कनिष्ठिका अंगुली के सहित अनामिका अंगुल ऊपर को उठी हुई रहकर वक्र हो जाये, तब उस हस्त को "खटाकामुख हस्त" कहते है।

**कर्म** – इसी नत हस्त से होत्र, हव्य और अन्न बनाया जाता है। दोनों हाथों से छत्र ग्रहण तथा छत्राकर्षण दिखाई पड़ता है। एक हस्त से आदर्श (शीशा) पकड़ना और पंखा चलाना, दूसरे हस्त से अवक्षेपण करना, उत्क्षेपण करना, फिर खण्डन करना, धूमते हुए इससे परिवेषण करना तथा बड़े दण्ड

---

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-75 से 84
2. अरालव (स्य) यदा वक्रानामिका त्वङ्गुलिभेव्रत्। शुकतुण्डः स विज्ञेयः कर्म चास्याभिधीयते।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-85
3. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-85 से 89
4. अङ्गल्यो यस्य हस्तस्य तलमध्येऽग्रसंस्थिताः। तासामुपरि चाङ्गष्ठ स मुष्टिरभिधीयते।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-90
5. एष प्रहारे (व्या) यामे कार्यः सभ्रुकुटीमुखैः। पार्श्वस्थहस्तयुग्मेन निर्गयचे तु विधीयते।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-86
6. अस्यैव शिखराख्यस्य अ(ंद्य)ङ्गुष्ठकनिपीडिता। यदा प्रदेशिनी वक्रा स कपित्थस्तदा स्मृता।।
   (यष्यातिग्रहणमात्रमर्धने?) स्तनपीडने। असंयुत (यु) विधातव्यो (सुद्दष्टिभ्रवो तथा?)
   सत्यप्यभिनये जन्म ++ विक्षिपेन्मुहुः। अत्रापि हस्तानुगतं दृष्टिभ्रुकर्म शस्यते।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-97-99
7. उत्क्षिप्तवक्रा तु यदा (तां कार्या?) स कनीयसी अस्यैव तु कपित्थस्य (पदांशौषटकमुखः?)
   कुशकेशकलापादिग्रहे स्त्रग्दामसंग्रहे। दृष्टि (भ्रू) सहितो हस्तः प्रयोक्तव्यो विचक्षणैः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-100, 104

को ग्रहण करना, वस्त्रालम्बन करना, केश-कलाप आदि पकड़ने में तथा माला आदि के संग्रह में दृष्टि एवं भौं सहित इस हस्त को विचक्षण के द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

**11. सूचीमुख हस्त** – खटाकमुख हस्त में जब तर्जनी अंगुली प्रसारित कर देने या फैला दी जाती है तब उस हस्त को प्रयोग-शास्त्रियों को "सूचीमुख हस्त" समझना चाहिए।[1]

**कर्म** – इस प्रदेशिनी नामक अंगुली का प्रायः व्यापार होता। वह हस्त सम्मुख से कम्पित, उद्वेलित, लोल्लद् एवं वाहित विभ्रभों से प्रदर्श्य है। भ्रू-का अभिनय, चालन, एवं जृम्भन भी अपेक्ष्य है। धूप, दीप, पृष्प, माल्य, पल्लव आदि पुष्प-मञ्जरी प्रभृति भी प्रदर्श्य है। नृत्य के तत्व को जानने वालों के द्वारा वाक्यार्थ के निरूपण में इस प्रकार की अंगुली का प्रयोग होता है। जिससे हाथ फैला हुआ हो, अंगुलियाँ कांप रही हों, विशेष कर गुस्से में पुनः हाथ को उठा कर फैलाकर यह अभिनय प्रदर्श्य है।[2]

**12. पद्मकोश हस्त मुद्रा** – जिसकी अंगुलियां अंगुठे सहित विरली और कुञ्चित हो और ऊपर उठी हुई और अग्रभाग संयत हो, तो ऐसा हस्त "पद्मकोश हस्त" कहलाता है।[3]

**13. सर्पशिरा-हस्त-मुद्रा** – जिस हाथ की सब अंगुलियाँ अंगुठे के सहित संहत अर्थात् सटी होती है तथा हथेली निम्न यानि अन्दर की ओर धंसी हो, उस हस्त को "सर्पशिरा हस्त" कहते है।

**कर्म** – सर्पशिरा-हस्त का प्रयोग सलिल अर्थात् जल के देने, सर्प की गति दिखाने, जल के रेचन से, भौं चढ़ाकर इस प्रकार से टेढ़ा सिर करके सम्मुख अधोमुख से, हाथी का कुम्भस्फालन दिखाना चाहिए और भ्रू-सहित दृष्टि को हस्त की अनुयायिनी बनाना चाहिए।[4]

**14. मृगशीर्षक-हस्त-मुद्रा** – अधोमुख तीनों अंगुलियों की जब समागति होती है तथा कनिष्ठा और अंगुष्ठ जब ऊपर होते हैं तब यह "मृगशीर्षक हस्त" के नाम से पुकारा जाता है।[5]

**कर्म** – शास्त्र के आलम्भन में, अक्ष-पालन में, और स्वेद्रानयन में टेढ़ी मुद्रा से उस तत्प्रदेश-स्थित अधोमुख करना चाहिए तथा इसमें क्रोध-मुद्रा प्रदर्श्य है। इसकी अनुयायिनी दृष्टि तथा दोनों भौवों को भी वैसा ही करना चाहिए।[6]

**15. कांगुल-हस्त-मुद्रा** – त्रेताग्नि-संस्थिता मध्यमा एवं तर्जनी के सहित अंगुष्ठ प्रदर्श्य हैं। कांगुल में अनामिका नामक अंगुली टेढ़ी और कनिष्ठा ऊपर की ओर उसकी उत्तानित करके करकघुं-प्रभुति प्रकृतियों को दिखाना चाहिए। अंगुली नचाकर स्त्रियों के रोष-वचनों का तथा मुक्ता,

---

1. खटकाख्ये यादा हसते तर्जनी संप्रसारिता। हस्तः सूचीमखो नाम तदा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-105
2. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-106 से 115
3. यस्याङ्गुल्यस्तु (विरलामाभोरूहाङ्गुष्ठेन?) कुञ्चिताः।
   ऊर्ध्वाश्च सङ्गताग्राश्च (स) भवेत् पद्मकोशकः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-122
4. अंगुल्यः संहताः सर्वाः सहांगुष्ठेन यस्य तु। (तथानितघाश्चैव?) स तु सर्पशिराः करः।।
   रचित भ्रुकुटिः कुर्यादेवं तिर्यक्छिरो दधत्। पुरतोऽधोमुखे (न भास्या?) लनमाचरेत्।।
   दृष्टिर्भ्रूसहिता कार्या हस्त (स्या) स्यानुयाथिनी। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-126, 129
5. (अधोमुखीनासिृणे?) मंगुलीनां समागत (ति):। कनिष्ठांगुष्ठकावूर्ध्वे तदासौ मृगशीर्षकः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-130
6. (स्थाच्छत्र्यपलाभेने तिर्यगुक्ति पूश्वाक्षे पातनेत्र?)। स्वेदापमार्जने कार्योऽधोमुखस्तत्प्रदेर्यु (शग):
   क्रुद्ध (कुट्ट) मिते (संचलितः कर्तव्योऽ)धोमुखश्च सः।
   (अस्यानुयायिनी दृष्टिः पाणी कुर्याद् भवापि?)।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-132 से 133

मरकत आदि रत्नों के प्रदर्शन इसी हाथ से विहित है।[1]

**16. अलपद्म-हस्त-मुद्रा** – जिसकी अंगुलियाँ हथेली पर अपर्वतनी होती है और पास में पार्श्वगत विकीर्ण होती हैं, उस हस्त को "अलापद्म हस्त" कहते है।[2]

**कर्म** – प्रतिशोधन में इस हस्त का प्रयोग होता है अर्थात् प्रतिशोधन में यह हाथ सम्मुख टेढ़ा रखना चाहिए। "तुम किसकी हो"- नहीं है- इस वाक्य के शून्य उत्तर में बुद्धिमान के द्वारा अपने उपन्यसन तथा स्त्रियों के सन्देश में यह मुद्रा विहित है। पुनः दृष्टि एवं दोनों भौहें उस प्रकार इस हस्त-मुद्रा में भी अनुगत प्रदर्श्य है।[3]

**17. चतुर-हस्त-मुद्रा** – जहाँ पर तीन अंगुलियाँ फैली हुई हों और कनिष्ठा ऊँची उठी हो और उन चारों के मध्य में अंगुष्ठ बैठा हो, उस हस्त को "चतुर हस्त" कहते हैं।[4]

**कर्म** – अभिनय शास्त्री के द्वारा विनय और कर्म में यह हाथ प्रातिपादित किया गया है। नैपुण्य में शिर को उन्नत कर पुनः सत्व अर्थात् बल में ऊँची भौं करके पुनः नियम में इस चतुर हस्त को उत्तान बनाना चाहिए।[5]

**18. भ्रमकर-हस्त-मुद्रा** – मध्यमा और अंगुष्ठ सन्देश आकृति में और प्रदेशिनी टेढ़ी और ऊपर दोनों अंगुलियाँ जहाँ पर प्रकीर्ण हो उसको "भ्रमर हस्त" कहते हैं।[6]

**कर्म** – इस हाथ में कुमुद, उत्पल और पद्म का ग्रहण इस प्रकार का अभिनय करना चाहिए। कर्ण-देश पर इस हाथ को रखकर बनाना चाहिए और उसके अभिनय में दृष्टि को और भौं को हस्त का अनुगामी कराना चाहिए।[7]

**19. हंसवक्त्र-हस्त-मुद्रा** – हंसवक्त्र नामक इस हाथ की दोनों अंगुलियाँ अर्थात् तर्जनी तथा मध्यमा और अंगुठा भी त्रेताग्नि में स्थित हो, तो उस हस्त को "हंसवक्त्र-हस्त मुद्रा" कहते हैं।[8]

---

1. त्रेताग्निसंस्थिता मध्यातर्जन्यंगुष्ठका मता। कांगूलेऽनामिका वक्रा तथाचोर्ध्व(र्ध्वा) कनीयसी।।
(त्रेतोत्तनेन) कर्कन्तु (न्धू) प्रभृतीनि प्रदर्शयेत्। तरुणानि फलान्यन्यद् वस्तु किञ्चिच्च यल्लघु।।
वाक्याना(न्य)ङ्गुलिविक्षेपैः स्त्रीणां रोषकृतानि च। मुक्तामरकतादीनां (रत्नानां) च प्रदर्शनम्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-134 से 136
2. आवर्तिन्यः करतले यस्यांगुल्यो भवन्ति हि। पार्श्वागता विकीर्णाश्च सोऽलपद्मः प्रकीर्तितः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-137
3. तिर्यक् पुरःस्थितः कार्यो हस्तोऽयं प्रतिषेधने। कस्य त्वमिति नास्तीति वाक्ये शून्ये च धीमता।।
आत्मोपन्यसने स्त्रीणां (न सन्देशच्छेतो?) भवेत्। अस्य चानुगता दृष्टिर्विधातव्या भ्रुवौ तथा।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-138 से 139
4. अंगुल्यः प्रसृतास्तिस्रस्तथाघोर्ध्व(र्ध्वा)कनीयसी। तासां मध्ये स्थितोऽङ्गुष्ठः स करश्चतुरः स्मृतः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-140
5. विनये च नये चायं कार्योऽभिनयवेदिना। (वैपुणा तून्नतशिवा साः कृस्वा भ्रेतां भ्रुवा?)।।
विदध्याच्चतुरं हस्तमुत्तानं नियमे पुनः। किन्तु भ्रवं + कु(टिलां)विनयं प्रति नाचरेत्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-142 से 143
6. मध्यमांगुष्ठसन्दंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी। ऊर्ध्वमन्ये (प्रकीर्णो + अंगुल्यो?) भ्रमरे करे।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-160
7. कुमुदोत्पलपद्मानां ग्रहणं तेन पाणिना। तथैव दीर्घवृन्तानामन्येषामपि रूपयेत्।।
कर्णपूरो विधातव्यः कर्णदेशे स्थितेन च। दृष्टिभ्रुवौ चाभिन्ना(नये)तेषां कार्ये करानुगे।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-161 से 162
8. तर्जनीमध्यमांगुष्ठाभू(स्त्रे)ताग्निस्था निरन्तरा। भवेयुर्हंसवक्त्रस्य (शेष सम्प्रसारिता?)।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-163

**कर्म** – कुछ स्पन्द करते हुए, अंगुठे वाले इस हाथ से दोनों भौंहों को उठा कर निस्सार, अल्प और सूक्ष्म तथा मृदुल और लघु दिखाना चाहिए और इसके अभिनय में दृष्टि और भौं को हस्त का अनुगामी दिखाना चाहिए।[1]

**20. हंसपक्ष–हस्त–मुद्रा** – पहली तीनों अंगुलियाँ फैली हुई तथा अंगुठा जिसमें कुञ्चित हो उस हाथ को "हंसपक्ष" हस्त नाम से पुकारा जाता है।[2]

**कर्म** – इस हाथ को उत्तानित कर बाहर टेढा कर निवापाञ्जलि दिखाना चाहिए। और उसी के द्वारा गण्ड के रूप का गण्ड–वर्तन और भोजन में तथा प्रतिग्रह अर्थात् दक्षिणा आदि की स्वीकृति में इसे उत्तान करना चाहिए और उसी प्रकार ब्राह्मणों के आचमन आदि पूत कार्यों में इसे करना चाहिए। दोनों के अन्तरावकाश के नीचे इसे स्वस्तिक योगी बनाना चाहिए।[3]

**21. सन्दंश–हस्त–मुद्रा** – जब अराल–हस्त की तर्जनी और अंगुष्ठ का संदश–संज्ञक इस हस्त में विहित होता है और जब उसका तल–मध्य आभुग्न हो जाता है तब वह हस्त सन्दंश हस्त बताया गया है।[4]

**कर्म** – वह अग्र, मुख तथा पार्श्व इन तीनों भेदों में तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प–ग्रन्थन में प्रयुक्त करना चाहिए और तृणों तथा पत्रों के ग्रहण में और साथ–साथ केश सूत्र आदि परिग्रह में प्रयुक्त करना चाहिए।[5]

**22. मुकुल–हस्त–मुद्रा** – जिस हस्त की मुद्रा हंस–मुख के समान होती है तथा हस्त मुद्रा ऊर्ध्वा होती है और जिसकी अंगुलियाँ समागताग्रसहिता होती है, उस हस्त को "मुकुल हस्त" के नाम से पुकारा जाता है।[6]

**कर्म** – इस हस्त से मुकूलों तथा कमलों से संघत बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उच्चालित यह हस्त विट–चुम्बक होता है।[7]

**23. ऊर्णनाभ–हस्त–मुद्रा** – पद्मकोष नामक हस्त की अंगुलियाँ तब कुञ्चित होती हैं तब उस हस्त को "ऊर्णनाभ हस्त" कहते है।[8]

---

1. किञ्चित् प्रस्पन्दितांगुष्ठेनामुनोत्क्षिप्य च भ्रुवौ। निस्सारमल्पं सूक्षमं च दर्शयेन्मृदुलं लघु।।
कर्तव्यो(व्य)ऽभिनये चैषां दृग्भ्रुवौ च करानुगे। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–164
2. अंगुल्यः प्रसृतास्तिस्रस्तथा चोर्ध्वा कनीयसी। अंगुष्ठः कुञ्चितश्चैव हंसपक्ष इति स्मृतः।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–166
3. कर्तव्यं तेन गण्डस्य रूपस्य (गण्डवर्तनम्?)। कुर्वीत चैनमुत्तानं भोजने च प्रतिग्रहे।।
तथाचमनकार्ये च कर्तव्योऽयं द्विजन्मनाम्। अधस्तादन्तयोरेनं कुर्यात् स्वस्तिकयोगिनम्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–167 से 168
4. तर्जन्यंगुष्ठसन्दंश (स्व रोदनस्य?) यदा भवेत्।
आनुत (भुग्न) तलमध्यश्च सन्दंश इति स स्मृतः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–172
5. स चाग्रमुखपार्श्वका(र्श्वा)नां भेदेन त्रि(वि)धो भवेत्। तं पुष्पावचये पुष्पमांग्रध(ग्रथ)ने च प्रयोजयेत्।।
तृणपर्णग्रहे केशसूत्रादिस्तथापरे।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–173 से 175
6. समागताग्रसहिता यस्यांगुल्यो भवन्ति हि।
ऊर्ध्वं हंसमुखस्येव स भवेन्मुकुलः करः। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–182
7. कर्तव्यः संहतोऽत्रातो मुकुलाम्भोरुहादिषु।
पुरः प्रसर्प्य(र्प्यो)ञ्चलितः कर्तव्यो विटचुम्बकः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–183
8. पद्मकोशस्य हस्तस्य अ(त्व)ङ्गुल्यः कुञ्चिता यदा।
ऊर्णनाभः स विज्ञेयपश्चौर्यकेशग्रहादिषु।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–184

**कर्म** – इस हस्त का प्रयोग चोरी और केशगृह प्रकार के अभिनय में करना चाहिए, इस प्रकार की हस्त–मुद्रा से उसको फैलाकर, उठाकर दिखाना चाहिए। और उग्र–कोप–प्रदर्शन इस अंगुली से 'कौन हैं' इस मुद्रा से तिरछे निकलती हुई तथा कंपती हुई प्रदर्श्य है। पुनः कान खजुआने में, शब्द सुनने में यह मुद्रा विहित है।[1]

**24. ताम्रचुड़–हस्त–मुद्रा** – मध्यमा और अंगुष्ठ सन्दंश के समान जहाँ पर हो और प्रदेशिनी वक्रा हो तो दोनों अंगुलियाँ तलस्थ हो तो वह 'ताम्रचूड–हस्त' है।[2]

**कर्म** – मृग, व्याल आदि के डराने में तथा बाल संधारण में इस हाथ को भर्त्सना में भृकुटी युक्त बनाना चाहिए। सिंह एवं व्याघ्र आदि के योग में विच्युत होकर शब्द करता है। दृष्टि एवं भ्रु इस हस्त की सदैव अनुग विहित है।[3]

अंसयुत अर्थात् चौबीस प्रकार के हस्तों के वर्णनों के उपरान्त आलोच्य ग्रन्थ में राजा भोज तेरह प्रकार के संयुत हस्तों का वर्णन इस प्रकार किया है यथा :-

**1. अञ्जलि–हस्त–मुद्रा** – दो पताक हस्तों के संश्लेष से "अञ्जलि" नामक हस्त बनता है।

**कर्म** – इस हस्त पर विद्वान् को कुछ विनत शिर करना चाहिए। निकटवर्ती मुख से गुरु को नमस्कार करना चाहिए।[4]

**2. कपोत–हस्त–मुद्रा** – दोनों हाथों से परस्पर पार्श्व–संग्रह से "कपोत" नामक हस्त होता है।[5]

**कर्म** – शिनीनमन से एवं वक्षःस्थल पर हाथ रखकर उसी से गुरु–सम्भाषाण करना चाहिए और उसी से शीत और भय प्रदर्शन करना चाहिए।[6]

**3. कर्कट हस्त मुद्रा** – जिस हस्त की अंगुलियाँ अन्योन्याभ्यन्तर निःसृत होती है, उसको "कर्कट" समझना चाहिए।[7]

**कर्म** – शिर को उठाकर तथा भौंहों को लचाकर कामातुरों का जमुहाई लेना तथा अंग मर्दन इसी हस्त से दिखाना चाहिए।[8]

**4. स्वस्तिक–हस्त–मुद्रा** – मणिबन्धन में विन्यास अराल दोनों हस्तों की तथा स्त्रियों के लिए

---

1. चौर्यकेशग्रहे चैष कर्तव्योऽधोमुखः स(क)रः। शिरःकण्डूयने मूर्ध्नः प्रदेशे प्रचलन्मुहुः।।
   (तर्यकवर्ती?) विधातव्यः कुष्ठव्याधेर्निरूपणे।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–185 से 186
2. मध्यमांगुष्ठसन्दंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी। मृगव्यालादिविश्वासं(त्रासे) बालसन्धारणे तथा।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–188
3. अयं हस्तो विधातव्यो भर्त्सने भ्रुकुटीयुतः। सिंहव्याघ्रा(दि)योगे च विच्युतः शब्दवान् भवेत्।।
   दृष्टिभ्रुवौ च कर्त(व्यौन्य?)त्यमस्यानुगे बुधैः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–189 से 190
4. पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां संश्लेषात् सोऽञ्जलिः स्मृतः।।
   शिरश्च विनतं किञ्चित् तत्र कार्यं विपश्चिता। कार्यो गुरुनमस्कारो मुखस्यासन्नवर्तिना।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–195 से 196
5. उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामन्योन्यं पार्श्वसङ्ग्रहः(हात्)।
   (स?) हस्तः कपोतनामा (स्यात्) कर्म चास्याभिधीयते।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–197
6. (कुर्यात् प्रणमनं) वक्षःस्थितेन (तु) (न) मच्छिराः। गुरुसंभाषणं कुर्यात् स्त(ते)न शीतं भयं तथा।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–198
7. अंगुल्यो यस्य हस्तस्यान्योन्याभ्यन्तरनिःसृताः। स कर्कट इति ज्ञेयः (करः) कर्मास्य कथ्यते।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–201
8. समुन्नतशिराः किञ्चिदुत्क्षिप्तभ्रूश्च जृम्भणम्। अनेनैवाङ्गमर्ध(र्द) च कामार्तानां निरूपयेत्।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–83, श्लोक–202

प्रयोजित होते है तो उस हस्त को "स्वस्तिक हस्त" कहा गया है। चारों तरफ ऊपर प्रदर्श्य एवं विस्तीर्ण रूप में वनों, मेघों, गगन आदि प्राकृतिक दृश्य इस हस्त से अभिनय हैं।[1]

**5. खटकावर्धमान-हस्त-मुद्रा** – खटक में खटक न्यस्त खटकावर्धमानक संज्ञक यह हस्त बनता है।

**कर्म** – श्रृंगार आदि रसों के अर्थ में इसे प्रयोग करना चाहिए।[2]

**6. उत्संग-हस्त-मुद्रा** – दोनों अराल हस्त, विपर्यस्त और ऊँचे उठे हुए वर्धमानक जब हों, तो स्पर्श में एवं ग्रहण इसकी संज्ञा "उत्सङ्ग" बताई गई हैं।

**कर्म** – उत्संग नाम वाले ये दोनों हस्त होते है। इन दोनों का विशेष प्रहरण अथवा हरण में विनियोग करना चाहिए और इन दोनों हाथों को स्त्रियों की ईर्षा के योग्य बनाना चाहिए।[3]

**7. निषध हस्त** – जब मुकुल हस्त कपित्थ के द्वारा परिवेष्टित कर लिया जाये तब उसको "निषध" नाम होता है।

**8. दोल-हस्त-मुद्रा** – जब दोनों पताक हस्तों के अभिनय के कंधे प्रशिथिले मुक्त तथा प्रलम्बित दिखाई पड़ रहे हैं, तो उस हस्त को "दोल-हस्त" कहते हैं।[4]

**9. पुष्पपुट-हस्त-मुद्रा** – जो सर्पशिरा-नामक हस्त बताया गया है उसकी अंगुली संसक्त हो तथा दूसरा हाथ पार्श्व-संशिलष्ट हो, तो "पुष्पपुट-हस्त" बनता है। इसके काम विभिन्न प्रदर्शन, जलपान आदि हैं।[5]

**10. मकर-हस्त-मुद्रा** – जब दोनों पताक हस्त के अंगुठे उठाकर अधोमुख ऊपर विन्यासित होते है, तो उस हाथ का "मकर" अथवा "मकरध्वज" कहते हैं।[6]

**11. गजदन्त-हस्त-मुद्रा** – कूर्पर में दोनों हाथ जब सर्पशीर्षक संघित होते है तब उस हाथ को "गजदन्त हस्त" कहते हैं।[7]

**12. अवहित्थ-हस्त-मुद्रा** – शुक की चोंच के समान दोनों हाथों को बनाकर वक्षःस्थल पर रखकर फिर धीरे-धीरे मुखाविद्धाभिनय करना चाहिए उस हस्त को अवहित्थ हस्त कहा जाता है।[8]

---

1. उत्तानौ वामपार्श्वौं(र्श्वस्थौ) स्वस्तिकः परिकीर्तितः। समन्ततस्तदूर्ध्वं च विस्तीर्णं च (व) नानि च।।
ऋज(त)वो गगनं मेघा (++तेनार्थवर्तिना?)। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-203
2. खटकः खटके न्यस्तः खे(ख)टकावर्धमानयो(क)ः।।
श्रृङ्गारार्थे प्रयोक्तया(व्यः) परावृत्तस्तथापरः। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-204
3. अरालौ तु विपर्यस्तावुत्तानौ वर्धमानकौ। (उत्सङ्ग इति ज्ञेयः + स्पर्शग्रहणे करः?)।।
उत्सङ्गसंज्ञकौ स्यातां हस्तौ तत्कर्म चोच्यते। विनियोगस्तयोः कार्यः (बालकः प्रहरेण तु?)
ति(वि)धातव्याविमौ हस्तौ स्त्रीणामीर्ष्यायिते तथा। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-206 से 208
4. (अस्यो?) प्रशिथिलौ मुक्तौ पताकौ तु प्रलम्बितौ।
यदा भवेतां करण (णे) स दोल इति (सं) स्मृतः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-209
5. यस्तु सर्पशिराः प्रोक्तस्तस्यांगुलिनिरन्तरः। द्वितीय पार्श्वसंश्लिष्टः स तु पुष्पपुंटः (पराणि च)।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-210
6. पताकौ तु यदा हस्तावूर्ध्वांगुष्ठावधोमुखौ। उपर्युपरि विन्यस्तौ तदासौ मकरध्वजः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-212
7. (कर्परौ?) सन्धितौ हस्तौ यदा स्तां सर्पशीर्षकौ। गजदन्तः स विज्ञेयः करः कर्मास्य तस्य।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-213
8. शुकतुण्डौ करौ कृत्वा वक्षस्यभिमुखाश्चितौ। शनैरधोमुखाविद्धौ (सौबहिस्थल?) इति स्मृतः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-214

**13. वर्धमान-हस्त-मुद्रा** – दोनों हाथ हंस पक्ष की मुद्रा में जब हों और वे एक-दूसरे के पराङ्मुख हों, तो इसको "वर्धमान हस्त" के नाम से पुकारा जाता है।

इस प्रकार राजा भोज ने "संयुक्त हस्त" का वर्णन करने बाद "नृत्त हस्ताओं" का वर्णन अपने ग्रन्थ में इस प्रकार किया है।

**1. चतुरश्र हस्त मुद्रा** – जब वक्षःस्थल के सामने, अष्टांगल-प्रदेश में स्थित, सम्मुख खटकामुख, पुनः समान कूर्परांश ऐसी मुद्रा प्रतीत हो रही हो, तो इस हस्त को नृत्त-हस्त विशारदों ने "चतुरस्त्र-हस्त" की संज्ञा दी है।[1]

**2. विप्रकीर्ण-हस्त** – हंस पक्ष की आख्या वाले दोनों हस्त जब व्यावृत्ति एवं परिवर्तन से स्वस्तिक-आकृति में लाए जाते हैं, पुनः मणि-बंधन से च्यावित अर्थात् हटा दिए जाते है, तो इस मुद्रा को नृत्त हस्त विशारदों ने "विप्रकीर्ण" की संज्ञा दी है।[2]

**3. पद्मकोश-हस्त** – जब दोनों हस्त हंस-पक्ष जैसे विप्रकीर्ण और उसमें व्यावर्तन-क्रिया का आश्रय लेकर, अल-पल्लवता की आकृति में परिवर्तन कर इन दोनों हस्तों को जब ऊर्ध्व-मुख किया जाता है, तो उस हस्त को "पद्मकोश-हस्त" कहते है।[3]

**4. अराल खटकामुख-हस्त** – विवर्तन एवं परिवर्तन इन दोनों प्रक्रिया से दक्षिण हस्त को अराल और वाम हस्त को खटकामुख में स्थित कर, जब यह मुद्रा बनती है तो इसको "अराल-खटकामुख" हस्त कहते है।[4]

**5. आविद्धवक्त्रक हस्त** – भुजाएँ, कधे और कपूरों के साथ जब वाएँ और दाएँ ये दोनों हाथ कुटिलावर्तन क्रिया में अधोमुख-तल, आविद्ध, उद्धत एवं विनत इन क्रियाओं से जो मुद्रा प्रतीत होती है वहाँ इस मुद्रा को "आविद्धवक्त्रक"-नृत्त-हस्त मुद्रा की संज्ञा दी गई है। इस मुद्रा की विशेषता यह है कि इसमें गदा-वेष्टन योग भी विहित है।[5]

**6. सूची-मुख-हस्त** – जब सर्पशिर की मुद्रा में तलस्थ अगुष्टक वाले दोनों हाथ तिरछे हो कर और आगे प्रसारित कर, जो आकृति प्रतीत होती है, उस हस्त को "सूची मुख" की संज्ञा दी गई है।[6]

**7. रेचित हस्त** – मणिबंधन से विच्युति प्रदान कर सूचीमुख की ही आकृति इनको पहले देकर पुनः बाद में व्यावृत्ति और परिवृत्ति से हसपक्ष की मुद्रा में लाकर कमल-वतता करनी चाहिए। और

---

1. पुरस्ताद् वक्षसा (सो) हस्तौ प्रदेशेऽष्टांगुले स्थितौ। समान (कर्पूरशौ?) तु संमुखौ खटकामुखौ।।
   चतुरश्राविति प्रोक्तौ नृत्तहस्तविशारदैः। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-228
2. तावेव हंसपक्षाख्यौ व्यावृत्तिपरिवर्तनात्।।
   नीतौ स्वस्तिकतां पश्चात् प(च्च्या)वितौ मणिबन्धनात्। (विप्रकीर्णाविति प्रोक्तौ) नृत्ताभिनयकोविदैः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-229 से 230
3. तावेव हंसपक्षाख्यौ कृत्वा व्यावर्तनक्रियाम्। अलपल्लवतां नीतौ ततश्च परिवर्तितौ।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-231
4. पुनर्विवर्तितं कृत्वा परिवर्तनकं ततः।। अरालं दक्षिणं कुर्याद् वामं च खटकः सु(कामु)खम्।
   खटकाख्यास्त्रयो हस्ताः स्वक्षेत्रेऽसौ विधीयते।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-232 से 233
5. भुजांसकूपरैः सार्धं कुटिलावर्तितौ यदा। हस्तावधोमुखतलावाविद्धावुद्धतावुभौ।।
   (वि)नतौ नामतो (विद्याद् दीनाना?)विद्धवक्रकौ। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-234 से 235
6. (रचितौ सलावर्तितौ)
   यदा (तु) सर्पशिरसौ तलस्थांगुष्ठकौ करौ। (तेयकास्थौ) प्रसृताग्रौ च (शूलन्यासो भरतस्तदा?)।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-236

फिर इनको द्रुत-भ्रम की गति में लाकर दोनों वगलों से धीरे-धीरे रेचित करना चाहिए। नृत्त-हस्त विशारदों ने इस हस्त को "रेचित हस्त" की संज्ञा दी है।[1]

**8. अर्द्धरेचित हस्त** – यदि चतुरश्र तथा वाम हस्त रेचित कर दिया जाये तो इस हस्त को नृत्त-हस्त के ज्ञाता विद्वान उन हस्तों को "अर्धरेचित" हस्त की संज्ञा दी है।[2]

**9. उत्तान-वञ्चित हस्त** – दोनों हाथों को चतुरश्र से वंतत कर पुनः कूर्पर एवं अंस में अचित कर जब इस त्रिपताकाकृति प्रतीत होने लगते हैं और कुछ ये दोनों (त्रिकोनी) में आश्रित होते हैं, तो इसकी संज्ञा "उत्तानव वञ्चित" होती है।[3]

**10. पल्लव हस्त** – इस मुद्रा में या तो बाहु-वर्तन अथवा शीर्ष एवं निष्क्रान्त के वर्तन से, इस क्रिया से अभ्यर्णागत दोनों हाथ जब पताक के साथ हो जाते हैं, तो इस नृत्त हस्त-मुद्रा को "पल्लव हस्त" की संज्ञा दी जाती है।[4]

**11. केशबन्ध हस्त** – मस्तक पर दोनों हाथ जब उद्वेष्टित वर्तनया से शिर के दोनों बगलों पर जब पल्लव-संस्थानाकृति में दोनों हाथ हो, तो इस नृत्त हस्त को "केशबन्ध हस्त" कहा जाता है।[5]

**12. करि-हस्त** – इस करिहस्त की विशेषता यह है कि दक्षिण हस्त लता-हस्त के समान तथा वाम हस्त उन्नत विलोलित अर्थात् झूल रहा हो तथा त्रिपातक हस्त की आकृति में परिणत हो जाते हैं तो इस नृत्त-हस्त को "करिहस्त" की संज्ञा दी गई है।[6]

**14. पक्ष-वंचितक** – उद्वेष्टित वर्तना से जब दोनों हाथ त्रिपताक में अभिमुख घटित हो जाते हैं पुनः करि-हस्त सन्निविष्ट हो, तो इस नृत्त-हस्त की संज्ञा को "पक्ष-वाञ्चितक" दी गई है।[7]

**15. पक्ष-पद्योतक हस्त** – जब ये दोनों त्रिपताक हाथ कटि तथा शिर पर सन्निविष्टाग्र दिखाई पड़ते हैं, पुनः विवर्तन एवं परावर्तन से "पक्ष-पद्योतंक" नामक हस्त बनता है।[8]

**16. गरुड-पक्षक हस्त** – जहाँ हाथों की हथेलियों को अधोमुख करके यानि नीचें की ओर

---

1. हस्तौ सूचीमुखा ते च(वेव) मणिबन्धनविच्युतौ। व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां वर्तितौ तदनन्तरम्।।
   हंसपक्षत्वमानीय कुर्यात् कमलवर्तिताम्। तथा द्रुतभ्रमौ कृत्वा रेचितौ पार्श्वयोः शनैः।।
   रेचिताचित(विति) विज्ञेयौ हस्तौ हस्तविशारदैः। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-237 से 238
2. वामहस्त(स्त)दितरः (कृत्वादेष्वित?)रेचितः करः। अर्धरेचितसंज्ञौ तौ विज्ञातव्यौ तदा वुधैः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-242
3. कूर्परांसावि(ञ्चि)तौ हस्तौ नीतौ च त्रिपताकताम्। (शकिञ्चि आश्रयस्थितावेतौ ज्ञेयावुत्तानितौ?)
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-240
4. बाहू(हु)वर्तनया बाहुशीर्षव्द्यौ(र्षाद् व्या)वर्तनेन वा। करणेन वि(निष्)क्रान्तौ (मितं?) वाभ्यर्णमागतौ।।
   पतकावेव निर्दिष्ठो पल्लवौ नामतः करौ।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-243
5. उद्वेष्टिवर्तनया गत्या (वस्त्रंत्रास्त्रया?) स्थितौ मूर्ध्न4। पार्श्वद्वितये पल्लवसंसंनिने(नौ) केशबन्धाख्यौ।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-244
6. व्यावर्तितकरणाभ्यां (करिहस्ते) दक्षिणो लताहस्ता (स्त)ः।
   उन्नतविलोलितः स्यात् त्रिषक्त(पता)को वामहस्तस्तु।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-246
7. उद्वेष्टित(परि?)वर्तनया त्रिपताकावभिमुक्षौ यदा घटितौ। करिहस्तसन्निविष्ठौ करौ तदा पक्षवञ्चितकौ।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-247
8. तावेव त्रिपताकी हस्तौ कटिशीर्षसन्निविष्टाग्रौ। विपरावृत्तिविधानात् पक्षप्रच्योतकौ नाम्ना।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-248

मुखवाली करके दोनों हस्तों को आपस में आविद्ध कर दिया जाये या जोड़ दे तो "गरुड-पक्षक हस्त" बनता है।[1]

**17. उरोमण्डली हस्त** – जब एक हाथ उदेवेष्टित तथा दूसरा अपवेष्टित हो, उन्हें अपने वक्षःस्थल पर मण्डलाकार घुमाते हुए पुनः वक्ष पर रखा दिया जाये तो उन्हें "उरोमण्डल हस्त" कहते है।[2]

**18. उरः पार्श्वामण्डली-हस्त** – अल्पल्लव हाथों को टेढा करके छाती पर आधे हिस्से में धुमा देने तथा पार्श्व में आर्वतत कर देने से "उरपार्श्वमण्डली हस्त" का निर्माण होता है। अर्थात् जब एक हाथ पार्श्व में फैला दिया जाये तथा दूसरा उत्तान में।[3]

इस प्रकार भोजकृत समराङ्गण सूत्रधार के प्रारम्भ में 64 का वर्णन मिलता है परन्तु पुष्पेन्द्र द्वारा सम्पादित समराङ्गण सूत्रधार में केवल 55 हस्तों का ही उल्लेख उपलब्ध होता है।

**वैष्णवादि-स्थान-लक्षण** – आलोच्य ग्रन्थ के 80वें अध्याय में प्रतिमा के पाद-मुद्रा का वर्णन हुआ है इसमें प्रतिमा के अनेक चेष्टा-स्थानों का वर्णन किया गया है, जिनको समझकर एवं उसी के अनुसार विधान कर चित्र-विशारद मोह को प्राप्त नहीं होते है। इसके षड-स्थान है- वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़ एवं प्रत्यालीढ़।[4]

**वैष्णव स्थान**– आलोच्य ग्रन्थ के 80वें अध्याय में वैष्णवस्थान का लक्षण करते हुए कहा गया है कि वैष्णव स्थान के अनुसार दोनों पादों का अन्तर ढाई ताल के प्रमाण से होता है। उन दोनों का एक पक्ष समन्वित और दूसरा पक्ष-स्थित त्रिकोण होता है और कुछ जंघा खिंची हुई दिखाई पड़ती है। इस प्रकार यह वैष्णव-स्थान बनता है और इस स्थान पर भगवान् विष्णु अधिदेवता परिकल्पित किये गये हैं।[5]

**समपाद-स्थान** – समपाद-नामक स्थान के आधार पर दोनों पाद ताल-मात्र प्रमाण के अन्तर पर स्थित होते हैं। साथ ही साथ स्वभाव से वे सुन्दर होते हैं और इनके अधिदेवता ब्रह्मा कहे गये हैं।[6]

**वैशाख-स्थान** – वैशाख-स्थान के आधार पर दोनों पादों का अन्तर साढ़े तीन ताल का होता है। पहला पाद अक्ष तथा दूसरा पाद पक्ष-स्थित अंकित करना चाहिए। इस प्रकार यह वैशाख-संज्ञा वाला स्थान होता है इस स्थान के अधिदेवता भगवान् विशाख स्वामि कर्तिक हैं।[7]

**मण्डल-स्थान** – राजा भोज ने मण्डल स्थान में पाद-मुद्रा का लक्षण इस प्रकार दिया है कि यह इन्द्र-सम्बन्धी मंडल-नामक होता है।

1. (त्रिप शाखौ हस्तावधोमुखा हि तद्?) विज्ञेयौ गरुडपक्षाख्यौ। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-249
2. उद्वेष्टितौ यदैक एव भ्रमित उरसः स्थाने तौ द्वावपि स्याताम्?)
   नियतमुरोमण्डलिनौ विज्ञातव्यौ तदा तज्ज्ञैः। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-253
3. +++पल्लवो हस्तस्तथाराला(द्वा वापरा?)। व्यावर्तनाकृतश्चैकस्तयोरन्योपवेष्टनात्।।
   उरोर्धयोगात् पार्श्वार्धयोगाञ्च क्रमशः(स्थितौ)। (एतौ विद्वा)न् विजानीयादुरःपार्श्वार्धमण्डलौ।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-83, श्लोक-254
4. वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डल तथा। प्रत्यालीढमथालीढं स्थानान्येतानि (लक्षणम्)।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-2
5. अश्वक्रामत्तमथायामविहितनाकत्रयं स्त्रीणाम्। द्वौ तालवर्धतालश्च पाययोरन्तरं भवेत्।।
   वैष्णवस्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम्। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-5
6. समपादे समौ पादौ तालमात्रान्तरस्थितौ। स्वभावसौष्ठवोपेतौ ब्रह्मा चात्राधिदैवतम्।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-6
7. अश्रमेक द्वितीयं च पादं पक्षस्थितं लिखेत्। (नैवमोरु?) भवत्येव स्थानं वैशाखसंज्ञितम्।।
   विशाखो भगवानस्य स्थानकस्याधिदैवतम्। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-7 से 8

इसके दोनों पाद चार ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं। तिकोनी और पक्ष-स्थिति से कटि जानु के समान होती है।[1]

**आलीढ़** – पाँच ताल के अन्तर पर स्थित दक्षिण पाद को फैलाकर आलीढ़ नामक स्थान बनता है और वहाँ के देवता भगवान् रुद्र होते हैं।[2]

**प्रत्यालीढ़** – दक्षिण पाद को कुंचित करके वाम पाद को प्रसारित करना चाहिए। आलीढ़ के परिवर्तन से ही प्रत्यालीढ़ बनता है।[3]

आलोच्य ग्रन्थ के 80वें अध्याय में स्थानक पाद मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य सथानक मुद्राओं का भी वर्णन किया गया है कि इन में तीन पाद-मुद्रायें विशेष कीर्त्य हैं। पहली में दक्षिण तो बराबर, दूसरे में अर्थात् वाम में त्रिकोण तथा तीसरी मुद्रा में कटि समुन्नत इस प्रकार यह पहली मुद्रा **"अवहित्य"** के नाम से पुकारी जाती है दूसरी मुद्रा में एक पैर बराबर स्थित हो तथा दूसरा अग्र तल युक्त कहलाता है। तीसरी मुद्रा 'चकान्त' नाम से पुकारी जाती है। यह तीन स्थान स्त्रियों के और कहीं-कहीं पुरुषों के भी होते हैं। कटि के पार्श्व-भाग में दो हाथ, मुख, वक्षस्थल, ग्रीवा तथा शिर इन समस्त स्थानों में क्रियानुसार कार्य करना चाहिये ग्रन्थकार का कथन है कि क्रियायें अनन्त हैं। उनका सम्पूर्ण रूप से वर्णन करना असम्भव है। इसलिये हम लोग यहाँ पर उसका दिङ्मात्र अर्थात् थोड़ा वर्णन करते हैं। प्रिय के निकट प्रसन्न स्त्री का अथवा प्रिय के निकट पुरुष की जैसी स्थिति अथवा संस्थान हो, वह ब्रह्मसूत्र ऋज्वागत स्थान बनता है।[4]

इन मुद्राओं में अवयव विभाग भी होता है, उसका वर्णन आलोच्य ग्रन्थ में इस प्रकार से किया गया है कि नासिका और अधर-पुटों में और अन्य नाना अंगों में जैसे सृक्कणी नाभि आदि तथा पीछे से ऊरू के मध्य से और उसी के समान पीछे गुल्फ के अन्त में त्रिभंग-नामक स्थान में सूत्र की गति बतायी गयी है। इस त्रिभंग-नामक स्थान में एक ताल के अन्तर पर गति दिखानी चाहिए। छतीस अंगुल भागीय स्थान के मध्य में ऐसा निर्माण विहित है। द्रुत, मध्य, विलम्बित-प्रभेद से तीन प्रकार का गमन होता है। इस प्रकार से इन सब गमन-स्थलों में संस्थान समझना चाहिए। अन्य सूत्रों की यथोचित स्थिति को विद्वान् लोग ठीक तरह समझकर करें।[5]

**सूत्र-विन्यास-क्रिया** – बहुत सी क्रियायें जो मनुष्यों में अंकित करने योग्य होती हैं उनका शिष्यों के ज्ञान के लिए तीन सूत्रों का पातन करना चाहिए। ब्रह्मसूत्र, गतसूत्र में और जो पार्श्व से सम्बन्धित वहाँ पर उन स्थानों में ऊपर तीन सूत्र हैं, वे पूर्णरूप से बोधव्य है। मध्य में जो बनाया

---

1. ऐन्द्र(न्द्रं) स्यान्मण्डलं पादौ चतुर्भू(स्ता)लान्तरस्थित्मै।
   त्र्यस्थ (श्र) पक्षसिति (ति) श्चैव कटिर्जानुसमा तथा।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-9
2. प्रसार्य दक्षिणं पादं पञ्चतालान्तरस्थितम्। आलीढं स्थानकं कुर्याद् रुद्रश्चात्राधिदैवतम्।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-10
3. कुञ्चित दक्षिणं कृत्वा वामपादं प्रसारयेत। आलीढं परिवर्त(र्ते) न प्रत्यालीढमिति स्मृतम्।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-11
4. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-12 से 17
5. (शीनं तत्रय वि?) नासिकाधरपुटेषु सृक्कणि च। (कंगंते परचूचुकपूर्वेण कलान्तरे?) नाभौ।।
   पश्चादूरोर्मध्ये पश्चिमगुल्फस्य तद्वदन्ते च। (स्थाने त्रिभंगा भामिनि?) (सू)त्रस्य गतिर्विनिर्दिष्टा।।
   पादौ तालान्तरितौ कर्तव्यौ स्थानके त्रिभागा(भङ्गा)ख्ये। षोडशविंशत्यंगुलमध्येऽन्तरितो (पितुदडिदाक्षे?)
   गमनं त्रिविधं प्राहुद्रुतमध्यविलम्वितप्रभेदेन। (स्थानेष्वर्धनेत्राख्यभित्तिषु त्रयगमध्ये?)।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-18 से 21

जाता है उसे "ब्रह्मसूत्र" कहते हैं। भित्ति के फिर अन्य भाग की अपेक्षा से पार्श्व में स्थित जो सूत्र होता है वह "मध्यगामी" ब्रह्मसूत्र कहलाता है। जो दोनों पार्श्वों पर से मेय है उसकी भी संज्ञा "पार्श्व-सूत्र" ही है। प्रदेशावयवों की पूर्ण निष्पत्ति के लिए विधान-पूर्वक जो अभिप्सित कार्य सम्पादित करना है उनमें इन तीनों उर्ध्व-सूत्रों का विन्यास अनिवार्य है। इन के मान तियेड् मानानुसार ही वे ज्ञेय हैं।[1]

वैष्णव प्रभृति स्थानों का वर्णन ठीक तरह से किया गया है गमनादि तीनों गतियाँ भी बतायी गयी हैं। सूत्र की पातन विधि भी यथावत प्रतिपादित की गयी है और इसके ज्ञान से स्थपति को शिल्पियों में श्रेष्ठ गिना जाता है।[2]

प्रतिमा निर्माण के प्रसंग में चौंसठ (64) प्रकार के हस्तों, छः प्रकार के पुरुष स्थानकों, तीन प्रकार के स्त्रीस्थानकों एवं सोलह प्रकार की रसदृष्टियों का ग्रन्थकार ने बड़ा ही रोचक एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है।

**प्रतिमा के देवादिरूपप्रहरणसंयोगलक्षण-** देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण के अन्तर्गत देवताओं के आकार और अस्त्र-शास्त्र के साथ दैत्यों के, यक्षों के, गन्धर्वों, नागों और राक्षसों के तथा विद्याधरों और पिशाचों की प्रतिमा के विषय में वर्णन हुआ है - यथा ब्रह्मा, शिव, कार्तिकेय, बलराम, विष्णु, यम, ऋषि गण, अग्नि, राक्षसादि, लक्ष्मी, कौशिकी, अष्टदिग्पाल, अश्विनौ, पिशाच एवं भूतगण, इत्यादि।[3]

**ब्रह्मा** - ब्रह्मप्रतिमा लक्षण के अनुसार ब्रह्मा की प्रतिमा प्रोज्जवल, अनल-संकाश विर्निमत होनी चाहिए अर्थात् अग्नि की ज्वालाओं के सदृश, महातेजस्वी होनी चाहिए और स्थूलांग, श्वेत-पुष्प (कमलादि) धारण किये हुए, श्वेत-वस्त्र धारण किए हुये और कृष्ण मृग-चर्म को उत्तरीय (ऊर्ध्व वस्त्र) धोती के रूप में धारण किए हुए सफ़ेद कपड़ों के पहनावे में चार मुख से सुशोभित ब्रह्मा की प्रतिमा बनानी चाहिए। ब्रह्मा के दोनों बायें हाथों में से एक में दण्ड तथा दूसरे में कमण्डलु होना चाहिए और दाहिने हाथों में एक में अक्ष-माला तथा दूसरे में वरद-मुद्रा। मूंज मेखला और माला धारण किए हुए बनाना चाहिए। इस प्रकार की लोकेश्वर ब्रह्मा की प्रतिमा को बनाने से सर्वत्र कल्याण होता है। ब्राह्मणों की वृद्धि होती है तथा उनकी सब कामनायें सिद्ध होती हैं। इसके विपरीत यदि ब्रह्मा की प्रतिमा विरूपा, दीना, कृशा, रौद्रा अथवा कृशोदरी हो तो वह अनिष्टदायिनी होती है। इसका कारण समराङ्गणकार बताते है कि रौद्रा-प्रतिमा, बनवाने वाले को मार डालती है, और दीन-रूपा-प्रतिमा स्थपति अर्थात् कारीगर को मारती है। कृशा प्रतिमा यजमान अर्थात् बनवाने वाले के लिए व्याधि एवं विनाश का कारण बनती है। कृशोदरी तो दुर्भक्ष का कारण बनती है और विरूपा तो अनपत्यता को प्रदान करती है। इसलिये इन दोषों से युक्त प्रतिमा को छोड़कर कुशल शिल्पियों को ब्रह्मा की सुन्दर प्रतिमा का निर्माण करना चाहिये।[4]

---

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-36 से 41
2. स्थानानि वैष्णवमुखान्युदितानि सम्यक् (त्रिर्मगितडिते?) गमनैरूपेते।
   सूत्रस्य पातनविधिश्च यथावदुक्तो ज्ञाते (न?) भवेत् तदिह सूत्रभृतां वरिष्ठः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-80, श्लोक-42
3. त्रिदशानामथाकारान् ब्रूमः प्रहरणनि च। दैत्यानामथ यक्षाणं गन्धर्वोरगक्षसाम्साम्।।
   विद्याधरपिशाचानां ++++ यथायथम्। ब्रह्मानलार्चिः प्रतिमः कर्तव्यः सुमहाद्युतिः।।
   समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-1 से 2
4. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-3 से 9

**शिव** – शिव प्रतिमा लक्षण पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वहाँ कहा गया है कि प्रथम यौवन में स्थित, चन्द्राकिंत-जटाधारी, श्रीमान्, संयमी, नीलकण्ठ, विचित्र-मुकुट, (जटा-मुकुट), निशाकार (चन्द्रमा) के अदृश कांतिमान् भगवान् शिव की प्रतिमा बनानी चाहिए। हस्त-संयोग के सम्बन्ध में इस प्रतिमा को द्विभुजी, चतुर्भुजी या अष्टभुजी बना सकते हैं पट्टिश अस्त्र से व्यग्र-हस्त, सर्पों और मृग चर्म से युक्त, शिव की प्रतिमा बनानी चाहिए। सर्वलक्षण-संपूर्ण तथा तीन नेत्रों से भूषित, इस प्रकार के गुणों से युक्त जहाँ भगवान शिव की प्रतिमा बनाई जाती हैं, वहाँ पर राजा और देश अर्थात् राष्ट्र की परम उन्नति होती है।[1]

शमशान में शिवप्रतिमा की प्रतिष्ठा के विषय में समराङ्गणकार का कथन है कि जंगल में अथवा शमशान में महेश्वर की प्रतिमा के भिन्न रूप बनाने चाहिये विशेषकर आकृति एवं हस्त-संयोग। ऐसा रूप बनाने पर बनवाने वाले का कल्याण होता है। अट्ठारह बाहु वाले, बीस बाहु वाले, शत बाहु वाले अथवा कभी सहस्र बाहु वाले, रौद्र रूप धारण किये हुए शिव की प्रतिमा का बनाना चाहिये। इस प्रतिमा में गणों से घिरे हुए तथा सिंह चर्म को उत्तरीय-वस्त्र के रूप में धारण किये हुए बनाना चाहिये। इस रौद्र रूप के आगे के दाँत पैनी दाढ़ के अग्र भाग के समान निकले हों और मुण्डमाला से विभुषित हो, चन्द्र से अंकित मस्तक वाले, पीनवक्षस्थल तथा भयंकर दर्शन वाले शिव की प्रतिमा को श्मशान में प्रतिष्ठित करना चाहिये। दो भुजा वाले शिव की प्रतिमा राजधानी में, चतुर्भुज शहर में और श्मशान तथा जंगल के बीच में बीस भुजाओं वाले महेश्वर की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए। भगवान् भद्र (शिव) एक ही हैं, स्थान-भेद से वे भिन्न-भिन्न रूप वाले तथा रौद्र और सौम्य स्वभाव वाले विद्वानों के द्वारा निंमित होते हैं। जिस प्रकार भगवान् सूर्य उदयकाल में बड़े ही सौम्य-दर्शन होते हैं, परन्तु मध्याह के समय प्रचण्ड हो जाते हैं, इसी प्रकार अरण्य में स्थित भगवान् शंकर नित्य ही रौद्र हो जाते हैं। फिर सौम्य स्थान में व्यवस्थित होने पर सौम्य हो जाते हैं। इस प्रकार स्थान-प्रभेद का पूर्ण ज्ञान रखते हुए शिल्पी को लोककल्याणकारक शिव की प्रतिमा विर्निमत करनी चाहिये।[2]

**कार्तकेय** – महाराजा भोजे ने जिस प्रकार भगवान् शंकर पर सुन्दर प्रवचन किया है उसी प्रकार कार्तकेय पर भी स्पष्ट एवं सुन्दर तथा पूर्ण रूप से वर्णन किया है कि – तरुण अर्क' (सूर्य) के समान तेजस्वी, रक्त धारण किये हुए, अग्नि के समान तेजस्वी, कुछ बालाकृति-धारण किये हुए, सुन्दर, मङ्गल-प्रतिमा, प्रिय-दर्शन, प्रसन्न-वदन, श्रीमान्, ओज और तेज से युक्त विशेषकर चित्र-विचित्र मुकुटों और मुक्ता-मणियों से विभुषित छः मुख वाले अथवा एक मुख वाले रोचिष्मती-शक्ति अर्थात् अस्त्र को धारण किये हुये कार्तकेय की प्रतिमा का संस्थान बताया गया है। नगर में बारह भुजाओं की प्रतिमा बनानी चाहिये, खेटक में छः भुजाओं वाली, कल्याण चाहने वालों को ग्राम में दो भुजाओं वाली प्रतिमा का निर्माण करना चाहिये।[3]

---

1. चन्द्राङ्कितजटः श्रीमान् नीलकण्ठः सुसंयते(तः)। विचित्रमुकुटः शम्भुर्निशाकरसमप्रभः।।
दोर्भ्यां द्वाभ्यां चतुर्भिवा (वधा?) युक्तो वा दोर्भिरष्टभिः। पटि(ट्टि)शव्यग्रहस्तश्च पन्नगाजिनसंयुतः।।
सर्वलक्षणसम्पूर्णो नेत्रत्रितयभूषणः। एवंविधगुणैर्युक्तो यत्र लोकेश्वरो हरः।।
परा तत्र भवेद् वृद्धिर्देशस्य च नृपस्य च। यदारण्ये (समाने?) वा विधीयेत महेश्वरः।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-10 से 13

2. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-14 से 22
3. कार्त्तिकेयस्य संस्थानमिदानीमभिधीयते। तरुणार्कनिभो रक्तवासाः पावकसप्रभः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77,

महाराजा भोज का कथन है कि शक्ति, शट, खड्ग, मुसृण्ठी और मुदगर–ये पाँचों आयुध इनके दक्षिण हाथों में दिखाने चाहिये। एक हाथ प्रसारित भी होना चाहिये। इस प्रकार से दूसरा छठा हाथ बताया गया है। धनुष, पताका, घंटा खेट, और कुक्कुट ये पाँच आयुध बायें हाथ में बताये गये हैं। तो छठा हाथ वहाँ पर सवंर्धनकारी हस्त (हस्त मुद्रा) वाला होता है। इस प्रकार आयुधों से सम्पन्न, संग्राम–भूमि में स्थित बनाये जाते हैं। अन्य अवसर पर तो उन्हें क्रीड़ा और लीला से युक्त बनाना चाहिये। छाग (बकरा), कुक्कुट (मुर्गा) से युक्त तथा मयूर से युक्त मनोरम भगवान् सकन्द का शत्रुओं पर विजय करने की इच्छा करने वालों को सदा नगरों में बनाना चाहिये। खेटक में उग्रप्रतिमा तथा तीक्ष्ण आयुधों से युक्त और पुष्प–मालाओं से सुशोभित बनाना चाहिये। ग्राम में शान्त प्रतिमा, दो भुजा वाला बनाना चाहिये। जिसके दायें हाथ में शक्ति और वायें हाथ में कुकुट। इस प्रकार से विचित्र–पक्ष में महान् तथा सुन्दर विनिर्मेय है।

इस प्रकार आलोच्य ग्रन्थ के अनुसार (शास्त्रज्ञ आचार्य) पुर में, खेटक में और ग्राम में भगवान् मंगलकारी कार्तकेय की प्रतिमा का निर्माण करते हैं। अविरुद्ध कार्यों में खेट, ग्राम तथा उत्तम पुर में कार्तकेय का यह संस्थान प्रयत्नपूर्वक करवाना चाहिये।[1]

**बलराम** – आलोच्य ग्रन्थ में विष्णु के 28वें अवतार बलराम की प्रतिमा निर्माण का लक्षण करते हुए कहा गया है कि सुन्दर भुजाओं वाले तालकेतु धारण किये हुए महाद्युति, वक्ष में वन माला से विभुषित, चन्द्र के समान कान्ति वाले, एक हाथ में सीजर (हल) दूसरे में मुसल लिये हुए, महान् घमण्डी चतुर्भज, सौम्य–मुख, नीलाम्बर–वस्त्र–धारी, मुकुटों एवं अलंकारों से तथा चन्दन से विभूषित, पत्नी रेवती सहित इन लक्षणों से युक्त बलराम की प्रतिमा का निर्माण करना चाहिये।[2]

**विष्णु** – महाराजा भोज ने विष्णु के असाधारण एवं दशावतार दोनों प्रतिमायों के लक्षणों का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा है। कि विष्णु वैदूर्य–मणि अर्थात् नील मणि के समान, पीताम्बर धारण किये हुए, लक्ष्मी के साथ, बाराह–रूप में, वामन–रूप में अथवा भयानक नृसिंहरूप में अथवा दाशरथि राम–रूप में, वीर्यवान जामदग्नि के रूप में, दो भुजा वाले अथवा आठ भुजा वाले अथवा चार बाहु वाले अरिन्दम, शंख चक्र, गदा को हाथ में लिये हुए, ओजस्वी कान्तिमान् नाना–रूप–धारी इस रूप में प्रतिमा में विभाव्य हैं। इस प्रकार सुरों और असुरों में अभिनन्दित भगवान् विष्णु की प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिये।[3]

**इन्द्र** – इन्द्र के विषय में कहा गया है कि देवाधीश इन्द्र, वज्र धारण किये हुए, सुन्दर हाथों

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–77, श्लोक–27 से 35
2. (बालस्तु सुभुजः श्रीमान् स्थले केतु महाद्युतिः?)। वनमालाकुलोरस्को निशाकरसमप्रभः।।
गृहीतसारो(सीर)मुसलः कार्यो दिव्यमदोत्कटः। चतुर्भुजः सौम्यवक्रो नीलाम्बरसमावृतः।।
कु(मु)कुटालङ्कृतशिरोरोहो रागविभूषितः रेवतीसहितः कार्यो वन(बल)देवः प्रतापवान्।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–77, श्लोक–36 से 38
3. विष्णुर्वैदूर्यसङ्काशः पीतवासाः श्रियाकृ(वृ)तः। वराहो वामनश्च स्यान्नरसिंहो भयानकः।।
कार्यो (वा?) दाशरथी रामो जामदग्तयश्च वीर्यवान्। द्विभुजोऽष्टभुजो वापि चतुर्बाहुररिन्दमः।।
शङ्खचक्रगदापाणिरोजस्वी कान्तिसंयुतः। नानारूपस्तु कर्तव्यो ज्ञात्वा कार्यान्तरं विभुः।।
इत्येष विष्णुः कथितः (सुरास्वरनमस्वरनमस्त्वतः?)। त्रिदशेशः सहस्राक्षौ(क्षो) वज्रभृत् सुभुजो बली।।
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–77, श्लोक–39 से 42

क. किरीट सगदः श्रीमाञ् श्वेताम्बरधरस्तथा। श्रोणीसूत्रेण महा(हता)दिव्याभरणभूषितः।।
कार्यो राजश्रिया युक्तः पुरोहितसहायवान्। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–77, श्लोक–18 से 44

ख. वैवस्वतस्तु विज्ञेयः (कालेः केसं?) परायणः।।
तेजसा सूर्यसङ्काशो जाम्बूनदविभूषित। सम्पूर्णचन्द्रवदनः पीतवासास्तु (शु) भेक्षणः।।
विचित्रमुकुटः कार्यो वराङ्गविभूषितः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय–77, श्लोक–44 से 46

वाले, बलवान किरीटधारी, गदा-सहित श्रीमान, श्वेताम्बर-धारी, श्रोणि-सूत्र से मण्डित, दिव्या-भरणों से विभूषित, पुरोहित-सहित, राज-लक्ष्मी संयुक्त इन्द्र की प्रतिमा बनवानी चाहिये।[1]

**यम** – महाराजा भोज के अनुसार वैवस्वत को यम-राज (धर्मराज) समझना चाहिये। तेज में सूर्य के समानु सुवर्ण-विभूषित, सम्पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाले, पीताम्बर-वस्त्र-धारी और शुभ-दर्शन, विचित्र मुकुट वाले तथा वरांगद-विभूषित बनाना चाहिये।[2]

**ऋषि गण** – ऋषिगणो की प्रतिमा के निर्माण के विषय में कहा गया है कि तेज में सूर्य के समान बलवान एवं शुभ भरद्वाज और धन्वन्तरि बनाने चाहिये। दक्ष आदि आर्ष प्रजापति भी इस प्रकार परिकल्प्य हैं।[3]

**अग्नि** – ज्वालाओं से युक्त, अग्नि की प्रतिमा अर्थात् प्रतिमा बनानी चाहिए। उसकी कान्ति सौम्य ही होनी चाहिये।[4]

**राक्षासादि** – राक्षसों की प्रतिमाओं के निर्माण विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि रूद्र-रूप-धारी, रक्त-वस्त्र धारण करने वाले, नाना प्रकार के काले आभूषणों एवं आयुधों से विभूषित् सब राक्षस बनाने चाहियें।[5]

**लक्ष्मी** – देवी प्रतिमा लक्षण में केवल लक्ष्मी और कौशिकी (दुर्गा) के ही लक्षण प्राप्त होते हैं। आलोच्य ग्रन्थानुसार पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली, शुभ्रा, विम्बोष्ठी अर्थात् ओष्ठ विम्ब फल के समान, चारू-हासिनी श्वेत-वस्त्र धारिणी सुन्दरी, दिव्य अलंकारों से विभूषिता, कटि-देश पर निवेशित वाम-हस्त से सुशोभिता अर्थात् वाम हस्त को कमर पर रखे हुए और पद्म लिये हुए दक्षिण हाथ से सुशोभिता एवं शुचि-स्मिता, प्रसन्न-वदना लक्ष्मी प्रथम यौवन में स्थिता बनानी चाहिये।[6]

**कौशकी** – कौशकी दुर्गा के समान ही प्रतीक होती है, शूल, परिध, पट्टिश, पादुका, ध्वजा आदि लक्षणों से युक्त कौशिकी का निर्माण करना चाहिये। उसके हाथों में खेटक, लघु खड्ग, तथा सौवर्णी घण्टा होनी चाहिये। वह घोर-रूपिणी परिकल्प्य है। उसके वस्त्र पीत एवं कौशेय होने चाहिये तथा उसका वाहन भगवती दुर्गा के समान सिंह होना चाहियें।[7]

**अष्टदिग्पाल** – आठों दिग्पाल इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरूण, वायु, कुबेर और ईशान यह आठ दिग्पाल हैं। समस्त दिग्पालों की प्रतिमाओं के निर्माण के लक्षण आलोच्य ग्रन्थ में इस प्रकार से वणत हैं कि शुल्काम्बर धारी, मुकुटों से सुशोभित एवं नाना रत्नों से मण्डित इन आठों दिग्पालों का निर्माण करना चाहिये।

**अश्विनी कुमार** – आलोच्य ग्रन्थों के अनुसार कल्याणकारी दोनों अश्विनी कुमारों को एक ही समान बनाना चाहिये। वे शुक्ल माला और शुभ वस्त्र धारण किये हुये स्वर्ण कान्ति वाले बनाने

---

1. धन्वन्तरिर्भरद्वाजः (प्रजानीयतयस्तथा। दक्षार्थाः सद्दशाः कार्या कार्यो रूपाणि+रपि?)
समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-47
2. अचिष्मान् क्ष (ज्व) लनः कार्यः (यत्कण्ठाश्व?) समीकरणः।
सौम्यः कार्यस्तथा (विस्या?) ++ रुद्रशरीरिणः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-48
3. रक्तवस्त्रधराः कृष्णा नानाभरणभूषिताः। कर्तव्या राक्षसाः सर्वे बहुप्रहणान्विताः।। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-49
4. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-50 से 52
5. विभ्राणा खेटकोपेतलधुखड्गं च पाणिन। घण्टामेकां च सौवर्णी दधती घोररूपिणी।।
कौशिकी पीतकौशेयवसना सिंहवा (ह) ना। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-53 से 54
6. शोभमानाश्च मुकुटैर्नानारत्रविभूषितैः। सहशावश्विनौ कार्यों लोकस्य शुभदायकौ।।
शुक्लमाल्याम्बरधरौ जाम्बूनदविभूषितौ। समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-55 से 56
7. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-57 से 60

चाहिये।

**पिशाच एवं भूत-गण** - समराङ्गणकार ने पिशाच एवं भूत-गण की प्रतिमाओं के निर्माण पर बड़े विस्तार से वर्णन किया है। वहाँ कहा गया है कि इनके दाँत भयंकर तथा विचित्र होते हैं। इनके बाल मेचक प्रभ के समान होते हैं। इनका वर्ण वैदूर्य-संकाश होना चाहिये। इनकी मूँछे हरी परिकल्प्य हैं। रंग रोहित एवं आकृति भयावह, लोचन लाल, रूप नाना-विध एवं भयंकर होता है। इनके शिरों पर सर्पों का प्रदर्शन भी अनिवार्य है। इनके वस्त्र भी अनेक वर्ण के होते हैं। इनके रूप भयंकर, कद छोटे, यह असत्यवादी, भयंकर आदि रूपों में निर्मेय हैं। साथ ही भूतों की प्रतिमायों में विशेषता यह है कि वे बड़े भयंकर, उग्र रूप तथा भीम-विक्रम विकृतानन, संघ-रूप में, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कवचों को लिये हुए तथा शटिकाओं से शोभ्य ऐसे भूतों तथा अनेक गणों को बनाना चाहिये।

आलोच्य ग्रन्थ के अनुसार जो सुर और असुर नहीं बताये गये हैं उनका भी कार्यानुरूप बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो, राक्षसों और यक्षों, गन्धर्वों और नागों का जो लिङ्ग हो, विशेषज्ञ लोग ही उनका निर्माण करें। यह पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधों से सुसज्जित बाहु वाले बनाना चाहिये। उनसे भी कुछ छोटे और गुणों से भी छोटे दैत्य लोग बनाने चाहिये। दैत्यों से छोटे मदोत्कर यक्ष लोगों का निर्माण करना चाहिये। उनसे हीन गन्धर्वों और गन्धर्वों से हीन पन्नगों और उनसे हीन नागों को बनाना चाहिये। राक्षस तथा विद्याधर लोग यक्षों से हीन देह-धारी बताये हैं। चित्र-विचित्र माला एवं वस्त्र धारण करने वाले भयानक घोर रूप भूत-संघ होते हैं। वे पिशाचों से भी अधिक मोटे और तेज़ से कठोर होते हैं।[1]

**प्रतिमा स्थापना** - समराङ्गण सूत्रधार के पचपनवें अध्याय में किस देवता की प्रतिमा कहाँ स्थापित हो, इसका वर्णन राजा भोज ने किया है क्योंकि बिना प्रतिमा के देवप्रासाद में प्राण की भूमिका निभाती है।

देवप्रासाद के पूर्व में अंशुमाली "दिवाकर" की प्रतिमा स्थापित हो, पूर्व दक्षिण (आग्नेय) दिशा में कुमार "र्कातक" की, दक्षिणा दिशा में मातृदेवों की, दक्षिणापरि में गणेश की प्रतिमा स्थापित होनी चाहिए। वारूणी दिक् पश्चिम में, "गौरी" तथा "चण्ड़िका" वायव्यकोण में, कौवेरी दिश उत्तर में भगवान् "विष्णु" की, ईशान कोण (उत्तर-पूर्व) में "शिव" भगवान् की स्थापना करनी चाहिए।

समराङ्गण सूत्रधार में अन्य देवोंं की स्थापना के विषय में वर्णन इस प्रकार किया गया है[2] कि ईशानी (उत्तर-पूर्व) में लोकनायक "ईशान" की पूर्व में दैत्यारि (दैत्यों का शत्रु) इन्द्र की प्रतिमा, आग्नेय काणे में "वैश्वानर अग्नि", "धर्मराज" दक्षिण दिशा में, नैत्रहत्य कोण (दक्षिण-पश्चिम) में भगवान् "निर्त्रधति" की, प्रतीची में प्रचेता भगवान् वरुण की स्थापना करनी चाहिए। इस प्रकार वायव्य कोण (उत्तर-पश्चिम) में वायु तथा उत्तर में कुबेर। यही आठ महात्मा लोकपाल के नाम से विख्यात है यही सम्पूर्ण जगत के परिपालन है।[1]

इस प्रकार प्रतिमा निर्माण एवं स्थापना विधि के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रतिमा शब्द की व्युत्पत्ति, प्रतिमा निर्माण में मान योजना, प्रतिमा द्रव्य, प्रतिमा निर्माण में अंग तथा उपांग, प्रतिमा के गुण तथा दोष, शरीर के विभिन्न अवयवों के अन्तर्गत प्रतिमा की दृष्टि, हस्त तथा पाद लक्षण इत्यादि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है तत्पश्चात् विभिन्न देवी-देवताओं के स्वरूप का वर्णन करने के उपरान्त प्रतिमा की प्रतिमा के विधि विधानों की चर्चा की गई है।

1. समराङ्गण सूत्रधार, अध्याय-77, श्लोक-118 से 128

बुध
कुबेर
उत्तर
गुरु
ईशान
चन्द्रमा
वायु
वायव्य
शनि
वरुण
पश्चिम
दक्षिण
यम
मंगल